मासिक समाचारपत्र • पूर्णांक 149 • वर्ष 16, अंक 3 • जून 2026 • दस रुपये • 24 पृष्ठ

मज़दूर बिगुल

कॉकरोच जनता पार्टी और उसकी लोकप्रियता : भारतीय जनता में व्यवस्था और सरकार के प्रति बढ़ते गुस्से व असन्तोष और साथ ही विकल्पहीनता की अभिव्यक्ति 3

क्यों लगातार गिर रहा है भारतीय रुपया? 5

तृणमूल काँग्रेस (टीएमसी) में मची भगदड़ के मायने 14

बारह साल, जनता बेहाल

टूटे सपनों का अम्बार! कौन है इसका ज़िम्मेदार ?

सम्पादकीय अग्रलेख

मोदी सरकार और उसके तमाम नेता-मन्त्री, सांसद-विधायक-पार्षद देश भर में मोदी सरकार के 12 वर्ष पूरे होने का उत्सव मना रहे हैं। सारे भाजपाई नेता अपने आपको नरेन्द्र मोदी का परमभक्त दिखाने की लज्जाहीन प्रतिस्पर्द्धा में लगे हुए हैं। कहीं कीर्तन हो रहे हैं, कहीं चौकी लग रही है तो कहीं जगराते हो रहे हैं! दावा किया जा रहा है कि नरेन्द्र मोदी ने सार्विक मताधिकार पर आधारित आम चुनावों में चुने हुए प्रधानमन्त्री के तौर पर सबसे अधिक दिनों तक प्रधानमन्त्री रहने का जवाहरलाल नेहरू का कीर्तिमान ध्वस्त कर दिया है। वैसे देखा जाये तो अगर यह सच भी है तो यह अपने आप में कोई उपलब्धि नहीं है। 12 साल में आपने सत्ता में रहते हुए क्या किया, आपके काम का लेखा-जोखा उसके आधार पर बनता है और तभी तय होता है कि 12 साल सत्ता में रहना कोई उपलब्धि है या नहीं! वरना तो एडॉल्फ़ हिटलर भी 12 साल 3 महीने सत्ता में रहा था, पर उसने जर्मनी को कहाँ से कहाँ पहुँचा दिया यह तो सारी दुनिया जानती ही है!

एक ऐसे समय में जब जनता कमरतोड़ महँगाई और विकराल बेरोज़गारी की मार झेल रही है, जब देश के छात्र-युवा बरबाद होती शिक्षा व परीक्षा व्यवस्था का नतीजा भुगत रहे हैं, जब देश के अल्पसंख्यक, विशेष तौर पर, मुसलमान साम्प्रदायिक तनाव और विषवमन के शिकार बन रहे हैं, जब स्त्री-विरोधी व दलित-विरोधी अपराध अपने चरम पर हैं, जब देश के ग़रीब छोटे किसान हर रोज़ तबाह हो रहे हैं और आत्महत्याएँ कर रहे हैं, उस समय नरेन्द्र मोदी के प्रधानमन्त्रित्व के 12 साल पूरे होने का भाजपा द्वारा मनाया जा रहा यह जश्न जनता के दुख-दर्द के साथ क्या एक भद्दा मज़ाक और राजनीतिक अश्लीलता की पराकाष्ठा नहीं है?

नरेन्द्र मोदी-नीत भाजपा सरकार के 12 वर्षों में देश के आम मेहनतकश लोगों ने क्या पाया और क्या खोया? इसका हिसाब किये बिना यह तय नहीं किया जा सकता है कि पिछले 12 वर्षों का जश्न मनाया जाये या मातम। आइये, जनता को प्रभावित करने वाले आधारभूत आर्थिक मसलों के बारे में कुछ बुनियादी तथ्यों और आँकड़ों पर निगाह दौड़ाते हैं। बढ़ती साम्प्रदायिकता, जातिवाद, क्षेत्रवाद, भाषाई पहचानवाद और पितृसत्तात्मक दमन के मसले भी उतने ही अहम हैं और उन पर चर्चा भी 'मज़दूर बिगुल' के पन्नों पर हम करते रहे हैं और आगे भी करते रहेंगे। लेकिन मौजूदा लेख में हम मूलत: और मुख्यत: मोदी सरकार के 12 साल के जनता के लिए आर्थिक नतीजों पर चर्चा को केन्द्रित करेंगे।

बेरोज़गारी का क़हर: मज़दूर और आम घरों के छात्र-युवा तबाहो-बरबाद

सबसे पहले तो यह याद रखने की आवश्यकता है कि बेरोज़गारी के सरकारी आँकड़े ही हास्यास्पद हैं। वजह यह कि उसमें रोज़गारशुदा होने या बेरोज़गार होने का पैमाना ही विचित्र है। इस पैमाने के अनुसार, सर्वेक्षण किये जाने के समय यदि किसी व्यक्ति ने पिछले सप्ताह एक घण्टे भी कोई वैतनिक कार्य किया हो, तो उसे रोज़गारशुदा माना जायेगा! 'रोज़गार' शब्द में ही 'रोज़' जुड़ा हुआ है, जिसका अर्थ है वह काम जो वेतन/आय के बदले आप रोज़ नियमित तौर पर करते हों। इसके अनुसार, अगर आप भूख और कुपोषण के मारे हों, काम की तलाश कर रहे हों, और आपको कहीं पर किसी दिन एक दिन का काम दिहाड़ी के आधार पर मिला और संयोग से उसके एक सप्ताह के भीतर सरकारी सर्वेक्षण वाले आपके पास आये, तो आपको एक नौकरीशुदा व्यक्ति के तौर पर सरकारी आँकड़ों में दर्ज कर लिया जायेगा! लेकिन पहले इन सरकारी आँकड़ों पर ही एक निगाह डाल लेते हैं।

रोज़गार-सम्बन्धी सरकारी आँकड़ों *पीरियॉडिक लेबर फ़ोर्स सर्वे-पीएलएफ़एस* दर्ज करता है। इसके आँकड़ों के ही हिसाब से देश में

(पेज 8 पर जारी)

नोएडा मज़दूर आन्दोलन के दौरान गिरफ़्तार राजनीतिक कार्यकर्ताओं, बुद्धिजीवियों, छात्रों-कलाकारों का दमन व 'विच हण्ट' जारी!

योगी राज में मज़दूरों के हक़ में आवाज़ उठाना क़रार दिया गया जुर्म!

● उदय

जैसा कि आप सभी जानते हैं अप्रैल माह में नोएडा मज़दूर आन्दोलन के दौरान उत्तर प्रदेश पुलिस ने सैंकड़ों मज़दूरों के साथ-साथ 7 मज़दूर कार्यकर्ताओं को गिरफ़्तार कर लिया था। मज़दूरों का "गुनाह" यह था कि वे अपने जायज़ व संवैधानिक हक़ों के लिए एकजुट हुए थे और न्यूनतम वेतन, डबल रेट से ओवरटाइम का भुगतान, आठ घण्टे के कार्यदिवस जैसे बेहद बुनियादी अधिकारों की माँग कर रहे थे और इन मज़दूर कार्यकर्ताओं का "अपराध" यह था कि वे इनके समर्थन में आवाज़ उठा रहे थे। इसी कड़ी में उत्तर प्रदेश सरकार ने 12 मई, 2026 को जनबुद्धिजीवी, लेखक, वरिष्ठ पत्रकार, सामाजिक कार्यकर्ता सत्यम वर्मा तथा छात्र कार्यकर्ता व दिल्ली विश्वविद्यालय की छात्रा और कलाकार आकृति चौधरी पर राष्ट्रीय सुरक्षा क़ानून (एनएसए) भी लगा दिया था। ये दो सामाजिक कार्यकर्ता उन सात एक्टिविस्टों में से हैं, जिन्हें उत्तर प्रदेश पुलिस ने नोएडा मज़दूर आन्दोलन के दौरान हुई हिंसा को भड़काने के आरोप में गिरफ़्तार किया था। बाक़ी पाँच एक्टिविस्ट आदित्य आनन्द, रूपेश राय, हिमांशु ठाकुर, सृष्टि गुप्ता और मनीषा चौहान भी दो महीने से अधिक वक़्त बीत जाने के बाद भी अभी न्यायिक हिरासत में हैं। इसके बाद 30 मई को एक अन्य छात्र कार्यकर्ता और दिल्ली विश्वविद्यालय से क़ानून की पढ़ाई कर रहे योगेश मीणा को भी यूपी पुलिस ने गिरफ़्तारी से जुड़े सभी संवैधानिक व न्यायिक मानदण्डों को ताक पर रखकर दिनदहाड़े दिल्ली विश्वविद्यालय से अगवा कर ग़ैर-क़ानूनी तरीक़े से गिरफ़्तार कर लिया। योगेश का "जुर्म" भी यही था कि वह छात्र अधिकारों की वकालत के साथ मज़दूर हक़ों की भी बात करता था। योगेश भी अभी न्यायिक हिरासत में है। यानी अब कुल आठ राजनीतिक कार्यकर्ताओं को बिना किसी क़सूर के क़ैद में रखा गया गया है। इनमें से अभी तक किसी को भी ज़मानत नहीं मिली है। ज़मानत की प्रक्रिया को व्यावहारिक तौर पर नामुमकिन बनाने के मक़सद से गिरफ़्तार कार्यकर्ताओं पर एक के बाद एक 10 से 11 एफ़आईआर दर्ज की गयी हैं। इनमें से कुछ एफ़आईआर में कार्यकर्ताओं को नामजद गिरफ़्तारी के दो माह बाद किया गया है।

गिरफ़्तार कार्यकर्ताओं के वक़ीलों के अनुसार, अबतक उत्तर प्रदेश पुलिस उनके विरुद्ध कोई भी ठोस प्रमाण ज़िला, सेशन कोर्ट, इलाहाबाद उच्च न्यायालय या फिर सुप्रीम कोर्ट में हुई सुनवाइयों में नहीं पेश कर पायी है। हर बीतते दिन के साथ उत्तर प्रदेश पुलिस की नोएडा "साज़िश" मामले में लिखी जा रहीं मनोहर कहानियाँ

(पेज 11 पर जारी)

साथी कविता कृष्णपल्लवी की एक मौजूँ कविता

हमला हो चुका है!

बर्बर हमलावरों ने हमला बोल दिया है।
आगे बढ़ रहे हैं वे लगातार
सृजन, विचारों, कल्पनाओं और स्वप्नों को रौंदते हुए
तर्क की मृत्यु की घोषणा करते हुए
धर्मध्वजा लहराते हुए
शिक्षा, कला, संस्कृति और जन संचार के
सभी प्रतिष्ठानों पर क़ब्ज़ा जमाते हुए
उन्हें जेलों में बदलते हुए
मिथकों को इतिहास बनाते हुए
ज़ुबानों पर ताले लगाते हुए
विवेक की गुप्तचरी करते हुए
विवेक के पक्ष में मुखर आवाज़ों की
गुप्त हत्याएँ करते हुए,
वास्तविक दुनिया में वास्तविक और
आभासी दुनिया में शाब्दिक हिंसा के
नये-नये तरीके ईजाद करते हुए।
मध्ययुगीन अन्धकार में लिपटे हुए
वित्तीय पूँजी के प्यादे
हर तरह की उर्वरता, हरेपन, और सपनों को
जलाकर राख़ कर देने का मंसूबा लिए
हर बस्ती के आसपास
बारूदी सुरंगे बिछा रहे हैं।
याचनाओं, अनुरोधों से उन्हें रोका नहीं जा सकता।
चुप्पियों से बचाव नामुमकिन है।
दो ही रास्ते हैं --
या तो हमें घुटनों के बल बैठकर
उनके सफेद दस्ताने चढ़े खूनी हाथों को चूम लेना होगा
फिर पुरस्कृत होकर उस जुलूस में शामिल हो जाना होगा
जो पहले रात में निकलता था
और अब दिन के उजाले में निकलता है,
जिसमें हत्यारों के साथ चलते हैं
विचारक और सुधी कलावन्त गण,
या फिर हमें पकड़े हुए एक-दूसरे के हाथ
तमाम आत्मिक और भौतिक सम्पदाओं के
निर्माताओं के साथ
खड़ा होना होगा तनकर, उनके ऐन सामने
उनकी राह रोककर।
बेशक़, मुमकिन है कि हम मारे जायें
इस कोशिश में
लेकिन हमारी वह मौत भी एक चोट होगी
बर्बरों पर मारक,
हमारी हार भी यदि हो तो
आने वाले जीत के दिनों की भविष्यवाणी
दर्ज़ करेगी वक्त की छाती पर।
दुबककर, चुप रहकर, माफ़ी माँगकर या
अराजनीतिक कला का पैरोकार बनकर जीना
यानी अपनी आने वाली पीढ़ियों की नज़रों में
बन जाना हरामी, कायर और कमीना।
जीवन की भविष्योन्मुख यात्रा के पक्ष में
लड़ते हुए मरना
यानी ज़िन्दगी की खूबसूरती को तृप्त होकर जीना
और आने वाली पीढ़ियों में जीत का विश्वास भरना।
विकल्प अधिक नहीं हैं
चुनना होगा इन्हीं दोनों में से किसी एक को हमें।

नोट : प्रिय पाठको! कुछ अपरिहार्य कारणों से इस अंक में 'क्रान्तिकारी मज़दूर शिक्षण माला' की अगली कड़ी नहीं दी जा रही है। इस श्रृंखला को अगले अंक से पुन: जारी किया जायेगा।

'मज़दूर बिगुल' के सभी पाठकों, सहयोगियों और शुभचिन्तकों से एक अपील

'मज़दूर बिगुल' के सभी पाठकों, सहयोगियों और शुभचिन्तकों से हमारी अपील है कि अगर आप इस अख़बार को ज़रूरी समझते हैं और जनता का अपना मीडिया खड़ा करने के जारी प्रयासों की इसे एक ज़रूरी कड़ी मानते हैं, तो इसे जारी रखने में हमारा सहयोग करें।

1. 'मज़दूर बिगुल' की वार्षिक, पंचवर्षीय या आजीवन सदस्यता ख़ुद लें और अपने साथियों को दिलवायें।
2. अगर आपकी सदस्यता का समय बीत रहा है या बीत चुका है, तो उसका नवीनीकरण करायें।
3. अख़बार के वितरक बनें, इसे ज़्यादा से ज़्यादा मेहनतकश पाठकों तक पहुँचाने में हमारे साथ जुड़ें। (प्रिण्ट ऑर्डर बढ़ने से लागत भी कुछ कम होती है।)
4. अख़बार के लिए नियमित आर्थिक सहयोग भेजें।

हमें जनता की ताक़त पर भरोसा है और हमारे अनुभव ने यह सिद्ध किया है कि बिना कोई समझौता किये, एक विचार के ज़रिए जुड़े लोगों की साझा मेहनत और सहयोग के दम पर बड़े काम किये जा सकते हैं। इसी ताक़त के सहारे 'बिगुल' 1996 से लगातार निकल रहा है और यह यात्रा आगे भी जारी रहेगी। हमें विश्वास है कि इस यात्रा में आप हमारे हमसफ़र बने रहेंगे।

अपने कारख़ाने, वर्कशॉप, दफ़्तर या बस्ती की समस्याओं के बारे में, अपने काम के हालात और जीवन की स्थितियों के बारे में हमें लिखकर भेजें। आप व्हॉट्सएप पर बोलकर भी हमें अपना मैसेज भेज सकते हैं। नम्बर है : 8853476339

"बुर्जुआ अख़बार पूँजी की विशाल राशियों के दम पर चलते हैं। मज़दूरों के अख़बार ख़ुद मज़दूरों द्वारा इकट्ठा किये गये पैसे से चलते हैं। " – **लेनिन**

'मज़दूर बिगुल' मज़दूरों का अपना अख़बार है।

यह आपकी नियमित आर्थिक मदद के बिना नहीं चल सकता।

बिगुल के लिए सहयोग भेजिए/जुटाइए।

सहयोग कूपन मँगाने के लिए मज़दूर बिगुल कार्यालय को लिखिए।

मज़दूर बिगुल की वेबसाइट

www.mazdoorbigul.net

इस वेबसाइट पर दिसम्बर 2007 से अब तक बिगुल के सभी अंक क्रमवार, उससे पहले के कुछ अंकों की सामग्री तथा राहुल फ़ाउण्डेशन से प्रकाशित सभी बिगुल पुस्तिकाएँ उपलब्ध हैं। बिगुल के प्रवेशांक से लेकर नवम्बर 2007 तक के सभी अंक भी वेबसाइट पर क्रमश: उपलब्ध कराये जा रहे हैं।

मज़दूर बिगुल का हर नया अंक प्रकाशित होते ही वेबसाइट पर नि:शुल्क पढ़ा जा सकता है।

आप इस फ़ेसबुक पेज के ज़रिए भी 'मज़दूर बिगुल' से जुड़ सकते हैं : www.facebook.com/MazdoorBigul

'मज़दूर बिगुल' का स्वरूप, उद्देश्य और ज़िम्मेदारियाँ

1. 'मज़दूर बिगुल' व्यापक मेहनतकश आबादी के बीच क्रान्तिकारी राजनीतिक शिक्षक और प्रचारक का काम करेगा। यह मज़दूरों के बीच क्रान्तिकारी वैज्ञानिक विचारधारा का प्रचार करेगा और सच्ची सर्वहारा संस्कृति का प्रचार करेगा। यह दुनिया की क्रान्तियों के इतिहास और शिक्षाओं से, अपने देश के वर्ग संघर्षों और मज़दूर आन्दोलन के इतिहास और सबक़ से मज़दूर वर्ग को परिचित करायेगा तथा तमाम पूँजीवादी अफ़वाहों-कुप्रचारों का भण्डाफोड़ करेगा।

2. 'मज़दूर बिगुल' भारतीय क्रान्ति के स्वरूप, रास्ते और समस्याओं के बारे में क्रान्तिकारी कम्युनिस्टों के बीच जारी बहसों को नियमित रूप से छापेगा और 'बिगुल' देश और दुनिया की राजनीतिक घटनाओं और आर्थिक स्थितियों के सही विश्लेषण से मज़दूर वर्ग को शिक्षित करने का काम करेगा।

3. 'मज़दूर बिगुल' स्वयं ऐसी बहसें लगातार चलायेगा ताकि मज़दूरों की राजनीतिक शिक्षा हो तथा वे सही लाइन की सोच-समझ से लैस होकर क्रान्तिकारी पार्टी के बनने की प्रक्रिया में शामिल हो सकें और व्यवहार में सही लाइन के सत्यापन का आधार तैयार हो।

4. 'मज़दूर बिगुल' मज़दूर वर्ग के बीच राजनीतिक प्रचार और शिक्षा की कार्रवाई चलाते हुए सर्वहारा क्रान्ति के ऐतिहासिक मिशन से उसे परिचित करायेगा, उसे आर्थिक संघर्षों के साथ ही राजनीतिक अधिकारों के लिए भी लड़ना सिखायेगा, दुअन्नी-चवन्नीवादी भूजाछोर "कम्युनिस्टों" और पूँजीवादी पार्टियों के दुमछल्ले या व्यक्तिवादी-अराजकतावादी ट्रेडयूनियनों से आगाह करते हुए उसे हर तरह के अर्थवाद और सुधारवाद से लड़ना सिखायेगा तथा उसे सच्ची क्रान्तिकारी चेतना से लैस करेगा। यह सर्वहारा की क़तारों से क्रान्तिकारी भर्ती के काम में सहयोगी बनेगा।

5. 'मज़दूर बिगुल' मज़दूर वर्ग के क्रान्तिकारी शिक्षक, प्रचारक और आह्वानकर्ता के अतिरिक्त क्रान्तिकारी संगठनकर्ता और आन्दोलनकर्ता की भी भूमिका निभायेगा।

प्रिय पाठको,
अगर आपको 'मज़दूर बिगुल' का प्रकाशन ज़रूरी लगता है और आप इसके अंक पाते रहना चाहते हैं तो हमारा अनुरोध है कि आप कृपया इसकी सदस्यता लें और अपने दोस्तों को भी दिलवाएँ। आप हमें मनीऑर्डर भेज सकते हैं या सीधे बैंक खाते में जमा करा सकते हैं। या फिर QR कोड स्कैन करके मोबाइल से भुगतान कर सकते हैं।

QR कोड व UPI

UPI: bigulakhbar@okicici

मनीऑर्डर के लिए पता :

मज़दूर बिगुल,
द्वारा जनचेतना,
डी-68, निरालानगर, लखनऊ-226020

बैंक खाते का विवरण : Mazdoor Bigul
खाता संख्या : 0762002109003787,
IFSC: PUNB0185400
पंजाब नेशनल बैंक, अलीगंज शाखा, लखनऊ

मज़दूर बिगुल के बारे में किसी भी सूचना के लिए आप हमसे इन माध्यमों से सम्पर्क कर सकते हैं :
फ़ोन : 0522-4108495, 8853476339 (व्हॉट्सऐप)
ईमेल : bigulakhbar@gmail.com
फ़ेसबुक : www.facebook.com/MazdoorBigul

मज़दूर बिगुल

सम्पादकीय कार्यालय	: 263, हरिभजन नगर, शहीद भगतसिंह वार्ड, तकरोही, इन्दिरानगर, लखनऊ-226016, फ़ोन: 8853476339
दिल्ली सम्पर्क	: बी-100, मुकुन्द विहार, करावलनगर, दिल्ली-90, फ़ोन: 9289498250
ईमेल	: bigulakhbar@gmail.com
मूल्य	: एक प्रति – 10/- रुपये वार्षिक – 125/- रुपये (डाक ख़र्च सहित) आजीवन सदस्यता – 3000/- रुपये

कॉकरोच जनता पार्टी और उसकी लोकप्रियता : भारतीय जनता में व्यवस्था और मौजूदा सरकार के प्रति बढ़ते गुस्से व असन्तोष और साथ ही विकल्पहीनता की अभिव्यक्ति

● गायत्री भारद्वाज

सर्वोच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश जस्टिस सूर्यकान्त द्वारा बेरोज़गार युवाओं को तिलचट्टा (कॉकरोच) कहे जाने के बाद देश में एक तूफ़ान-सा खड़ा हो गया। जस्टिस सूर्यकान्त को फ़ौरन ही यह सफ़ाई देनी पड़ी कि वे तो महज़ फ़र्ज़ी डिग्री वाले लोगों की बात कर रहे थे (हालाँकि, यह सफ़ाई भी सरकार और मौजूदा भाजपा के कई शीर्षस्थ नेताओं के लिए बहुत अच्छी टीका नहीं थी)। लेकिन बाद में सुनवाई के सामने आये वीडियो से तो यही प्रतीत होता है कि जस्टिस सूर्यकान्त ने यह टीका आम तौर पर बेरोज़गार युवाओं के लिए की थी। लेकिन अभी हम इस बहस में नहीं जाते हैं कि माननीय न्यायाधीश महोदय का क्या तात्पर्य था। हम इस बयान के बाद हुई घटनाओं पर थोड़ा विचार करना चाहते हैं।

इस बयान के बाद अभिजीत दिपके नामक एक शख़्स द्वारा एक 'कॉकरोच जनता पार्टी' ऑनलाइन लॉन्च कर दी गयी। इसके बाद, देश में इसे विशेष तौर पर युवाओं के बीच से भारी समर्थन मिला। इसके ऑनलाइन फ़ॉलोवर्स की संख्या भाजपा से भी ज़्यादा हो गयी। यह बात सत्ताधारी भाजपा के लिए चिन्ताजनक थी। हमेशा की तरह भाजपा नेता, मसलन, केरल के राजीव चन्द्रशेखरन ने इसे "भारत को अस्थिर करने की विदेशी साज़िश" क़रार दे दिया, जिसमें विपक्षी पार्टियाँ सहायता कर रही हैं! वैसे तो हमारे देश भारत की अभी जो स्थिति है, उसे स्थिरता तो कहीं से नहीं कहा जा सकता है! देश भर में मज़दूर सम्मानजनक जीवन-योग्य मज़दूरी के लिए सड़कों पर उतर रहे हैं और उन्हें बर्बर राजकीय दमन का सामना करना पड़ रहा है; भाजपा सरकार के दौरान शुरू हुआ दीर्घकालिक परीक्षा घोटाला अभी भी जारी है जिसकी ताज़ा मिसाल नीट पेपर लीक के रूप में सामने आयी है; इस पेपर लीक के बाद लाखों छात्र अवसाद और रोष में हैं, कई छात्रों ने आत्महत्याएँ तक की हैं; देश में रसोई गैस की किल्लत है और ग़रीब मेहनतकश शहरों से गाँवों की ओर लौटने को मजबूर हो गये हैं; दक्षिणी राज्यों से पहले ही 'लेबर शॉर्टेज' की ख़बरें आने लगी हैं; डीज़ल और पेट्रोल की क़ीमतों में मई में दस दिन के भीतर ही भाजपा सरकार ने चार बार बढ़ोत्तरी कर कुल लगभग साढ़े सात रुपये तक की बढ़ोत्तरी की है और सीएनजी की क़ीमत में भी कई रुपये की बढ़ोत्तरी कर दी गयी है; इस संकट के लिए वैश्विक परिस्थितियाँ तो एक हद तक ही ज़िम्मेदार हैं, लेकिन ईरान पर अमेरिका-इज़रायल द्वारा थोपे गये युद्ध पर भारत सरकार द्वारा अपनायी गयी बेतुकी विदेश नीति भी ज़िम्मेदार है; इन बढ़ोत्तरियों का नतीजा यह सामने आने वाला है कि पहले से आसमान छू रही महँगाई में और भी ज़्यादा और कमरतोड़ बढ़ोत्तरी होगी; देश में बेरोज़गारी के हालात पहले से भी ज़्यादा विकराल हो गये हैं; मन्दी से बिलबिलाया हुआ पूँजीपति वर्ग मज़दूरों के वेतन, कार्यस्थितियों आदि में कोई सुधार करने को तैयार नहीं है; इन पूँजीपतियों से ही अरबों रुपये चन्दे व चुनावी बॉण्ड लेने के बाद सरकार बनाने वाली पार्टी ज़ाहिरा तौर पर उनके हितों की सीमा में ही कोई भी काम करेगी; नतीजतन, स्थिति और भी ज़्यादा भयंकर होगी; लाखों भारतीय श्रमिक जो विशेष तौर पर मध्य-पूर्व में काम करते हैं, वे वापस लौट चुके हैं या लौट रहे हैं; नतीजतन, उनके द्वारा भेजे जाने वाले विदेशी मुद्रा का एक बड़ा स्रोत सूख गया है; रुपया गिरते-गिरते लगभग 1 डॉलर में 97 रुपयों की सीमा तक पहुँच चुका है; सत्ताधारी पार्टी के नेता या उनके पुत्र (मसलन, बण्डी संजय कुमार का बेटा, कुलदीप सेंगर, स्वामी चिन्मयानन्द, प्रज्वल रेवन्ना, आदि) आये दिनों बलात्कार, छेड़खानी आदि जैसे स्त्री-विरोधी अपराधों में पकड़े जा रहे हैं। यानी, देश की जनता के लिए हालात अभूतपूर्व रूप से भयंकर और अस्थिरतापूर्ण हैं और इनके और बदतर होने की पूरी सम्भावना मौजूद है। तो भाजपा नेता कॉकरोच जनता पार्टी की वजह से कौन-सी स्थिरता के भंग होने की बात कर रहे हैं, यह गहरे रहस्य का विषय है!

इसके अलावा, जो भी भाजपा सरकार के विरुद्ध कोई भी बात करता है, वह तो ऑटोमैटिकली "विदेशी" विशेष तौर पर "पाकिस्तानी" या "चीनी साज़िश" का एजेण्ट हो जाता है और उसमें हमेशा राहुल गाँधी और विपक्ष या किसी न किसी राजनीतिक विरोधी का हाथ होता है! गोदी मीडिया इसके बाद अफ़वाहसाज़ी में लग जाता है, ताकि यह साबित कर सके कि ये सब तो विदेशी साज़िश है और देश के भीतर तो "सब चंगा सी"! जिस नॉर्वेजियन पत्रकार ने नरेन्द्र मोदी से सवालों का जवाब देने को कहा, वह जॉर्ज सोरोस की एजेण्ट बना दी जाती है! कॉकरोच जनता पार्टी को विदेशी साज़िश साबित करने की कोशिशें शुरू हो जाती हैं! नोएडा मज़दूर आन्दोलन में समर्थन देने वाले एक्टिविस्ट विदेशी एजेण्ट या नक्सली बना दिये जाते हैं! सरकार ने देश की जगह अपने आपको रख दिया है। जो भाजपा सरकार और उसके नेताओं का विरोध करता है, वह "देशद्रोही" या "राष्ट्रद्रोही" बना दिया जाता है! उसे तुरन्त देश की सीमा पर तक़लीफ़ें झेल रहे जवानों का वास्ता दिया जाता है! लेकिन ये जवान भी आम मज़दूरों और ग़रीब किसानों के ही बेटे-बेटियाँ हैं। जैसा कि रबिन्द्रनाथ टैगोर ने कहा था, "देश आपके पाँवों के नीचे की ज़मीन नहीं है, बल्कि उसमें रहने वाले लोग हैं।" या, जैसा कि सर्वेश्वर दयाल सक्सेना ने कहा था, "देश कोई कागज़ पर बना नक़्शा नहीं होता।"

बहरहाल, हर राजनीतिक विरोध और असहमति को "देशद्रोह", "विदेशी साज़िश", आदि क़रार दे दिया जाना एक 'टूलकिट' है जिस पर भाजपा पार्टी, उसकी सरकार और गोदी मीडिया मिलकर बार-बार काम करते हैं। लेकिन एक दिक़्क़त है : देश की जनता का बहुलांश अब इस पर ध्यान नहीं देता और इनका 'ब्लफ़' अब पकड़ में आ गया है। 2019 में टीवी के इन्हीं गोदी चैनलों को देखने वालों की संख्या 7.2 करोड़ के क़रीब थी, जो अब 5 करोड़ पर आ गयी है। जनता का बड़ा हिस्सा गोदी मीडिया पर विश्वास नहीं करता और उससे नफ़रत करता है। सोशल मीडिया व इण्टरनेट पर मौजूद वैकल्पिक मीडिया जो पत्रकारिता के उसूलों का किसी हद तक पालन कर रहा है और वस्तुपरक व निष्पक्ष रवैया रखता है, वह जनता के बीच कहीं ज़्यादा लोकप्रिय हो गया है। यही वजह है कि हर दूसरे दिन भाजपा की केन्द्र व राज्य सरकारें किसी न किसी सोशल मीडिया पेज या हैण्डल को प्रतिबन्धित करने के प्रयासों में लगी रहती हैं, जो लोकप्रियता में अब गोदी मीडिया से आगे निकल गये हैं। भाजपा चाहती है कि सोशल मीडिया का इस्तेमाल केवल मोदी-शाह सरकार व भाजपा पार्टी के बॉट्स करें, और कोई न करे!

सोशल मीडिया एक ऐसा स्पेस है, जिस पर पूर्ण नियन्त्रण स्थापित कर पाना सम्भव नहीं है और इण्टरनेट पर कोई दीर्घकालिक प्रतिबन्ध लगाया नहीं जा सकता है। ऊपर से स्वयं सरकारें और उनके काम-काज ऑनलाइन प्रक्रियाओं पर बुरी तरह से निर्भर हैं। नतीजतन, सरकार और भाजपा तथा संघ परिवार के समक्ष एक समस्या है : एक ऐसा स्पेस जो पूरी तरह से उनके नियन्त्रण में नहीं है, जो देश की जनता के भारी हिस्से तक पहुँच रखता है और जहाँ अब भाजपा और संघ परिवार का नैरेटिव कुछ कमज़ोर पड़ने लगा है।

ऊपर से देश भर में बढ़ रहे जनअसन्तोष के कारण सरकारें बुरी तरह से भयाक्रान्त हैं और अपने पैरानोइया में स्वयं ऐसी स्थिति पैदा करने की तरफ़ जा रही हैं, जिसे मौजूदा व्यवस्था के दूरदर्शी पहरेदार संशोधनवादी माकपा नेता नीलोत्पल बसु ने शासक वर्गों को समझाते और चेताते हुए "सामाजिक विस्फोट" की संज्ञा दी है। एक ओर मज़दूर आन्दोलन का देश भर में बर्बर दमन किया जा रहा है, योगी सरकार ने मई दिवस मनाने पर प्रभावतः रोक लगा दी थी, अभी कुछेक दिन पहले की ही ख़बर है कि कॉकरोच जनता पार्टी के समर्थन में मानव श्रृंखला बनाने की एक ऑनलाइन अपील पर बंगलुरू पुलिस ने एक्शन लिया और उसे प्रसारित करने वालों पर कार्रवाई करने की धमकी दी है। ग़ौरतलब है कि कर्नाटक में कांग्रेस सरकार है, लेकिन वह भी भयाक्रान्त है! ज़ाहिर है, समूचा शासक वर्ग ही भयंकर होती आर्थिक व सामाजिक स्थितियों के मद्देनज़र जनता के गुस्से और असन्तोष से बुरी तरह से डरा हुआ है। ऊपर से, पिछले कुछ वर्षों में देश के आस-पड़ोस में जो घटनाएँ घटी हैं, वे किसी तरह से भी हदसे हुए भारतीय शासक वर्ग और मौजूदा फ़ासीवादी हुक़्मरानों को सुकून देने वाली घटनाएँ नहीं हैं, चाहे वह नेपाल हो, बंगलादेश हो या श्रीलंका। वैसे तो अरब बसन्त के तहरीर स्क्वायर और तुर्की के तकसीन स्क्वायर को भी दुनिया भर के हुक़्मरान अभी भूले नहीं हैं।

कॉकरोच जनता पार्टी की अचानक बढ़ी भारी लोकप्रियता के पीछे मुख्य कारण यह है कि हमारे देश का शासक वर्ग, उसकी राज्यसत्ता और उसके विभिन्न अंग-उपांग मेहनतकश जनता की तक़लीफ़ों के प्रति आश्चर्यजनक असंवेदनशीलता दिखा रहे हैं और उनका रवैया काफ़ी हद तक पुराने फ़्रांस की रानी मैरी एन्त्वानेत जैसा हो चुका है जिसने पूछा था कि "अगर जनता के पास खाने के लिए रोटी नहीं है, तो वह केक क्यों नहीं खा लेती?" उसी प्रकार, भूख और कुपोषण की कगार पर खड़ी भारी बहुसंख्यक मेहनतकश और आम मध्यवर्गीय आबादी को बताया जा रहा है कि "सब चंगा सी", "मेलोडी खाओ खुद जान जाओ", "देश शान्ति और विकास के पथ पर अग्रसर है", आदि। वहीं दूसरी ओर, खाता-पीता उच्च मध्य वर्ग और उच्च वर्ग नशे में बुरी तरह से टल्ली है। यह नशा है उपभोक्तावाद, खाऊ-पियू-अघाऊ संस्कृति का जिसमें चूर यह वर्ग निरन्तर "खाओ-पियो-ऐश करो मितराँ" गाने पर उन्मादी नृत्य करता रहता है। उसे न सिर्फ़ सुई से लेकर जहाज़ तक बनाने वाली और हर सेवा पैदा करने वाली जनता के दुख-दर्द से कोई लेना-देना नहीं है, बल्कि वह उसकी खिल्ली भी उड़ाता है। प्राचुर्य और धनाढ्यता का उसका यह अश्लील प्रदर्शन भी आँसुओं के समन्दर में खड़ी मेहनतकश जनता के धैर्य को परख रहा है।

देश में इस समय जो माहौल है, वह शासक वर्गों को डराने वाला है। और यह डर ही है जिसमें अक्सर शासक वर्ग अतिशय दमनकारी और उत्पीड़नकारी हो जाते हैं क्योंकि उन्हें लगता है कि लोगों को दबा-कुचलकर, डरा-धमकाकर उनकी न्याय और समानता की माँगों को दफ़नाया जा सकता है। और ये दमनकारी क़दम ही उनके लिए पहले से भी ज़्यादा परेशानियाँ भी पैदा करता है, जो कई बार प्राण-घातक भी सिद्ध होती हैं।

दिक़्क़त यह है कि जिन कारणों से देश में यह माहौल पैदा हुआ है, उस पर सत्ताधारी पार्टी, शासक वर्ग के शासक ब्लॉक, उसके दूरदर्शी चिन्तकों, रणनीतिज्ञों और थिंकटैंक्स का कोई नियन्त्रण नहीं है, चाहे वे अख़बारी कॉलमों में कितना भी ज्ञान क्यों न ठेल लें। महँगाई, बेरोज़गारी, भूख-कुपोषण, भ्रष्टाचार आदि के उपरोक्त जिन हालात की हमने चर्चा की है, उनका हरेक तत्व वास्तव में एक ऐसी सामाजिक-आर्थिक और राजनीतिक व्यवस्था का नैसर्गिक परिणाम है जिसमें केन्द्र में मुट्ठी-भर धनपतियों का मुनाफ़ा है, जहाँ समस्त वस्तुओं और सेवाओं का उत्पादन योजनाबद्ध तरीक़े से सामाजिक आवश्यकता के अनुसार नहीं किया जाता, बल्कि जहाँ तमाम निजी पूँजीपति हर उत्पादन-क्षेत्र में मुनाफ़े की अन्धी हवस और गलाकाटू प्रतियोगिता में लगे रहते हैं, जहाँ नियोजन नहीं बल्कि अराजकता का राज होता है, जहाँ इसी उत्पादन की अराजकता के चलते एक ओर ऐश्वर्य की मीनारें खड़ी होती हैं, तो वहीं दूसरी ओर आँसुओं का समन्दर होता है, एक ओर अश्लील होने की हद तक प्राचुर्य और धनाढ्यता का प्रदर्शन होता है तो वहीं दूसरी ओर दारिद्र्य और निर्धनता की खाई होती है, जहाँ अमीर और अमीर होते जाते हैं और ग़रीब और ग़रीब होते जाते हैं, जहाँ करोड़ों की संख्या में नौजवान बेरोज़गार सड़कों पर ठोकरें खा रहे होते हैं और देश के शीर्ष पर बैठे शासक वर्ग के अहलकारों के लिए वह महज़ तिलचट्टों की फ़ौज होते हैं।

एक ऐसी व्यवस्था हमेशा ही नियमित अन्तराल पर भयंकर मन्दी और संकट का शिकार होती ही है, जिसका कारण और कुछ नहीं बल्कि इसका मुनाफ़ा-केन्द्रित होना और अराजक होना है। इसमें लोग इसलिए भूखों नहीं मरते कि देश में खाने की कमी है; उल्टे खाद्यान्न उत्पादन आवश्यकता से ज़्यादा होता है और हर साल गोदामों में लाखों टन अनाज सड़ जाता है। उसी प्रकार, अगर तार्किक और वैज्ञानिक तौर पर सोचा जाय तो बेरोज़गारी का हमारे जैसे देश में कोई कारण नहीं होना चाहिए, क्योंकि यहाँ प्रचुर मात्रा में मानव संसाधन भी हैं और प्रचुर मात्रा में प्राकृतिक संसाधन भी हैं। इन दोनों का मेल कर दिया जाय तो असीमित विकास हो सकता है और हर हाथ को काम भी मिल सकता है। लेकिन इन दोनों के बीच मुनाफ़े की दीवार खड़ी है। जहाँ मुनाफ़ा नहीं है, वहाँ निवेश नहीं है और पूँजीपति वर्ग और उनकी कम्पनियाँ समाज-सेवा करने के लिए निवेश नहीं करती हैं, बल्कि मुनाफ़े के लिए निवेश करती हैं।

आज यह अवैज्ञानिक, अतार्किक और मानवद्रोही व्यवस्था और उसके शीर्ष पर बैठा शासक वर्ग अभूतपूर्व रूप से पतनशील और असंवेदनशील हो चुके हैं। यह दुनिया को लूट, शोषण, युद्ध, पर्यावरणीय विनाश, बेरोज़गारी, अपराध और भ्रष्टाचार के अलावा कुछ नहीं दे सकते हैं। जनता के दुख-दर्द से उन्हें दूर-दूर तक कोई लेना-देना नहीं है। अय्याशी और भ्रष्टाचार के गटर में गोते लगाने में उन्होंने सारे रिकार्ड ध्वस्त कर दिये हैं, वह भी एक ऐसे दौर में जब जनता भयंकर परेशानियों और तक़लीफ़ के दौर से गुज़र रही है। लिहाज़ा, जनता में भयंकर असन्तोष और गुस्सा मौजूद होना लाज़िमी है। यह किसी की साज़िश नहीं है, जैसा कि तमाम भाजपा सरकारें (केन्द्र व राज्यों की) हमें यक़ीन दिलाना चाहती हैं! यह उनके किये-धरे का नैसर्गिक परिणाम है, जिसका ठीकरा वह न तो "विदेशी एजेण्टों" पर थोप सकती हैं, न ही राजनीतिक असहमति रखने वाले सामाजिक व राजनीतिक कार्यकर्ताओं, ट्रेड यूनियनों, या विपक्ष पर। जनता में मौजूद भयंकर असन्तोष और गुस्से की ठोस और

(अगले पेज पर जारी)

कॉकरोच जनता पार्टी और उसकी लोकप्रियता

(पिछले पेज से आगे)

वाजिब वजहें हैं और जब तक उन वजहों का कोई निवारण नहीं होता, तब तक वह अपने आपको प्रकट करता रहेगा।

कॉकरोच जनता पार्टी ने इस असन्तोष और गुस्से को ही एक मध्यवर्गीय अभिव्यक्ति दी है। यही वजह है कि उसे जनता के एक अच्छे-ख़ासे हिस्से के बीच से अभूतपूर्व प्रतिक्रिया मिली है। कॉकरोच जनता पार्टी का 5 बिन्दु का एक घोषणापत्र है। उस घोषणापत्र से उसकी राजनीति के चरित्र के कुछ तत्व पता चलते हैं। एक तो इसे लॉन्च करने वाले अभिजीत दिपके पहले आम आदमी पार्टी के सोशल मीडिया विंग में काम करते थे और अमेरिका में संचार के विद्यार्थी हैं। वह आम आदमी पार्टी को पहले ही छोड़ चुके थे। उनकी नयी 'पार्टी' के घोषणापत्र पर आगे आयेंगे, पहले एक छोटा-सा रिमाइण्डर आम आदमी पार्टी के बारे में।

जैसा कि मीडिया में आज से 10-12 साल पहले अक्सर सुनने में आता था, आम आदमी पार्टी "भारतीय राजनीति में ताज़ा हवा के एक झोंके के समान" आयी थी। लेकिन अब वह बदबू भरी सड़ाँध में तब्दील हो चुकी है! वास्तव में, आम आदमी पार्टी का चरित्र शुरू से ही एक दक्षिणपंथी लोकरंजकतावादी पार्टी का था और वह शुरू से ही राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के एक व्यापक प्लान का अंग थी। अब यह बात सभी मानते और जानते हैं। अभी भी कुछ राज्यों में आप की भूमिका यही है कि वह भाजपा की चुनावी विजय में योगदान करती है, क्योंकि वह मुख्य पूँजीवादी विपक्षी पार्टी के वोट का एक हिस्सा काट लेती है। गुजरात के पिछले कुछ चुनाव इसका जीता-जागता उदाहरण है। लेकिन संघ की योजना से खड़े हर ऐसे राजनीतिक मंच की नियति यही होती है कि वह कालान्तर में सापेक्षिक रूप से संघ से स्वायत्त हो जाता है और कई बार भाजपा का प्रतिस्पर्द्धी बनने का प्रयास भी करता है, जैसा कि आप के साथ हुआ। लेकिन इसके बावजूद उसकी राजनीति का चरित्र आज भी दक्षिणपंथी लोकरंजकतावादी ही है और वह भाजपा की साम्प्रदायिक फ़ासीवादी नीतियों व प्रचार पर कभी हमला नहीं करती और अपने तरीक़े से अन्धराष्ट्रवाद का झण्डा भी बुलन्द किये रहती है। उसका कोर मसला भ्रष्टाचार था, जिसका पूँजीवादी व्यवस्था के भीतर कोई समाधान हो ही नहीं सकता है और यह बात जनता को भी एक हद तक समझ आयी है। जिस व्यवस्था में मुनाफ़ा ही सबकुछ हो, पैसा ही सबकुछ हो, उसमें श्रम की लूट क़ानूनी तौर पर तो होगी ही, लेकिन वह उसी तक सीमित नहीं रहेगी और शासक वर्ग के अलग-अलग धड़े लूट में अपनी-अपनी हिस्सेदारी बढ़ाने के लिए ग़ैर-क़ानूनी यानी भ्रष्टाचार के तौर-तरीक़ों का इस्तेमाल भी करते ही हैं और जब एक दफ़ा भ्रष्टाचार की गंगोत्री चालू हो जाती है, तो वह जनता के कुछ वर्गों को भी अपनी ज़द में ले ही लेती है। लुब्बेलुआब यह कि एक मुनाफ़ा-केन्द्रित व्यवस्था में भ्रष्टाचार का ख़ात्मा हो ही नहीं सकता है। हमने 2014 में लिखा था कि आम आदमी पार्टी की नियति यही है कि या तो वह कालान्तर में भाजपा के बरक्स कांग्रेस को तमाम राज्यों में पर्याप्त नुक़सान पहुँचाने के बाद धीरे-धीरे क्रमिक प्रक्रिया में समाप्त हो जायेगी या फिर यह छोटी नाली भाजपा के बड़े गन्दे नाले में समाहित हो जायेगी। फ़िलहाल तो ऐसा ही होता नज़र आ रहा है।

कॉकरोच जनता पार्टी एक अलग परिघटना है। यह किसी सामाजिक आन्दोलन से नहीं पैदा हुई है। यह अभी तक केवल एक ऑनलाइन परिघटना है, जिसके कुछ निश्चित ठोस सामाजिक प्रभाव और नतीजे सामने आने की सम्भावना है। दूसरी बात, इस पार्टी का 5-बिन्दु का घोषणापत्र एक निश्चित वर्गीय चरित्र रखता है। उसके अहम बिन्दु ये हैं कि सेवानिवृत्ति के बाद किसी न्यायाधीश को राज्यसभा सीट नहीं दी जायेगी, लोकसभा में सीटों की संख्या बढ़ाये बिना स्त्रियों को 50 प्रतिशत आरक्षण दिया जायेगा, दल बदलने वाले विधायकों व सांसदों को 20 वर्षों के लिए चुनाव से प्रतिबन्धित कर दिया जायेगा, कोई वैध वोट नहीं काटा जायेगा और ऐसा करने वाले प्रमुख चुनाव आयुक्त को यूएपीए के तहत गिरफ़्तार किया जायेगा क्योंकि वोट चुराना आतंकवाद के समान है, अडाणी और अम्बानी से जुड़े सारे मीडिया संस्थानों का लाईसेंस रद्द कर दिया जायेगा और उनके एंकरों के बैंक खातों की जाँच की जायेगी। इसके अलावा, पार्टी ने यह भी कहा है कि वह स्वयं को सूचना के अधिकार आवेदन के दायरे में रखेगी और कोई गुप्त कॉकरोच केयर फण्ड नहीं बनायेगी जो पीएम केयर्स फण्ड घोटाले की ओर इशारा करता है।

ये सारी माँगें मूलत: और मुख्यत: पूँजीवादी लोकतन्त्र की उन कमियों-ख़ामियों को दुरुस्त करने से जुड़ी हुई हैं, जो जनता के बीच इस असलियत को उजागर कर देती हैं कि पूँजीवादी लोकतन्त्र वास्तव में धनाढ्य पूँजीपति वर्ग के ही अधिनायकत्व का एक रूप है। उसमें आम जनता के लिए जो जनवादी व नागरिक अधिकार काग़ज़ी तौर पर मौजूद होते हैं वे हमेशा बाशर्त और औपचारिक होते हैं और जैसे-जैसे हम सामाजिक पदानुक्रम में नीचे उतरते हुए मज़दूरों व ग़रीब किसानों, मेहनतकश जनता के वर्गों तक जाने लगते हैं, वैसे-वैसे ये औपचारिक अधिकार प्रभावत: अदृश्य ही हो जाते हैं। ग़ौरतलब है कि जिस दौर में कॉकरोच जनता पार्टी का उभार हुआ है, उसी दौर में देश के दर्जनों शहरों व औद्योगिक केन्द्रों में औद्योगिक मज़दूरों ने भयंकर रूप से कम मज़दूरी, बद से बदतर होते काम और जीवन के हालात के विरुद्ध हड़तालें और आन्दोलन किये, मनरेगा को रद्द किये जाने के विरुद्ध ग्रामीण मज़दूर निरन्तर विरोध और आन्दोलन कर रहे हैं, ग़रीब किसान अपनी माँगों को लेकर सड़कों पर उतर रहे हैं, घरेलू कामगारों ने बार-बार अपनी जायज़ माँगों को लेकर हड़तालें व प्रदर्शन किये हैं। लेकिन कॉकरोच जनता पार्टी के 5-सूत्रीय घोषणापत्र में शहरी और ग्रामीण मज़दूरों और ग़रीब किसानों की माँगों, उनकी तक़लीफ़ों और ज़रूरतों के बारे में कोई बात नहीं कही गयी है। हो सकता है भविष्य में इस चुभने वाली और आश्चर्यजनक अनुपस्थिति व कमी पर अभिजीत दिपके का ध्यान जाये!

निश्चित तौर पर, बेरोज़गारों, युवाओं और परीक्षार्थियों के मुद्दे बेहद अहम हैं, जनता के बुनियादी मुद्दों में से एक हैं। इन्हें प्रभावी तरीक़े से जनता के बीच चर्चा का मुद्दा बना देने के लिए कॉकरोच जनता पार्टी और उसके संस्थापक अभिजीत दिपके धन्यवाद के पात्र हैं। लेकिन युवाओं और बेरोज़गारों की भी भारी आबादी मेहनतकश जनता यानी मज़दूरों और ग़रीब किसानों के घरों से ही आती है। अगर कॉकरोच जनता पार्टी को अपने चार्टर को वाक़ई जनता की आकांक्षाओं का प्रतिनिधित्व करने वाला चार्टर बनाना है, तो उसे देश के बहुसंख्यक वर्ग यानी ग्रामीण और शहरी मज़दूर वर्ग और ग़रीब किसान वर्ग की माँगों को भी अपने चार्टर में शामिल करना चाहिए। अन्यथा, यह चार्टर शहरी मध्यवर्ग के असन्तोष और गुस्से के विशिष्ट पहलुओं को रेखांकित करने वाला चार्टर मात्र कहलायेगा।

इन पाँच मुद्दों की भी बात करें तो वह एक प्रकार का सेण्ट्रिस्ट पाप्युलिज़्म (लोकरंजकतावाद) ही है। मसलन, अगर मुख्य न्यायाधीशों को राज्यसभा सीटें देने पर रोक लग जाये, तो देश की सामाजिक-आर्थिक और राजनीतिक व्यवस्था में कौन-सा बड़ा बुनियादी बदलाव आ जायेगा? वैसे भी यह प्रथा तो भाजपा के सत्ता में आने के बाद ही ज़्यादा प्रचलित हुई है। उसके पहले, जब ऐसे 'फ़ेवर' मुख्य न्यायाधीशों को आम तौर पर नहीं मिलते थे, तो ही कौन-से बड़े अच्छे हालात थे देश के बेरोज़गारों, छात्रों-युवाओं और आम नागरिकों के लिए? तब भी हर क्षेत्र में धन की शक्ति का ही बोलबाला था। या, अगर हम इसकी बात करें कि दल-बदलू विधायकों व सांसदों को बीस साल तक चुनाव लड़ने नहीं दिया जायेगा। इससे पूँजीवादी चुनावी व्यवस्था में कुछ जनवादी सुधार मात्र हो सकता है। इससे चुनावों की पूरी प्रक्रिया में धनबल और बाहुबल की भूमिका और उसमें से जनता की प्रभावी अनुपस्थिति (सिवाय वोट डाल देने वाले प्रकार्य के) और जनप्रतिनिधियों पर उसके प्रभावी नियन्त्रण की अनुपस्थिति की समस्याएँ हल नहीं होतीं। उसी प्रकार, अगर बिना लोकसभा की सीटें बढ़ाये 50 प्रतिशत महिला आरक्षण की भी बात करें, तो अपने आप में इससे लोकतान्त्रिक प्रक्रिया में जनता की हिस्सेदारी और उसका नियन्त्रण बढ़ने का कोई रास्ता नहीं खुलता है। सवाल महिला सांसदों व विधायकों की राजनीति के चरित्र का है, न कि सांसद या विधायक की जेण्डर पहचान का। जनता का यह नारा नहीं हो सकता कि "हमें महिला सांसदों व विधायकों द्वारा शोषित व दमित होने का अधिकार चाहिए!" अम्बानी और अडाणी से जुड़े समाचार चैनलों के लाईसेंस रद्द किये जाने और उनके एंकरों के बैंक खातों की जाँच की माँग बिल्कुल उचित है क्योंकि यह गोदी मीडिया के चरित्र को बेनक़ाब करती है। यह मीडिया में जनवादी सुधार की माँग मानी जा सकती है। साथ ही, पूँजीवादी लोकतन्त्र के भीतर मीडिया जितना स्वतन्त्र हो सकता है (वह पूर्णत: पूँजी की शक्ति और पूँजीपति वर्ग के हितों से स्वतन्त्र तो नहीं हो सकता), उतना स्वतन्त्र बनाने की हर माँग का समर्थन किया जाना चाहिए हालाँकि उसके लिए और बुनियादी माँगों को उठाये जाने की आवश्यकता है। सवाल केवल अडाणी और अम्बानी के मालिकाने वाले मीडिया संस्थानों का ही नहीं है। इसके अलावा, वोट चोरी करने और एक भी वैध वोट काटने पर चुनाव आयुक्त को दण्डित करने का प्रस्ताव भी सही है, लेकिन उस पर यूएपीए लगाने की माँग इसी प्रक्रिया में यूएपीए जैसे ग़ैर-जनवादी और तानाशाहाना क़ानून को भी जायज़ ठहरा देता है। क्या अभिजीत दिपके को यह पता है कि यूएपीए के प्रावधान क्या हैं और उनका किस प्रकार सरकारों द्वारा इस्तेमाल किया गया है? ऐसे इस्तेमाल को हम "दुरुपयोग" नहीं कहेंगे क्योंकि वह इसी प्रकार के उपयोग के लिए बना क़ानून है।

इस चार्टर का एक लोकरंजकतावादी चरित्र है, जो आम आदमी पार्टी के लोकरंजकतावाद से भिन्न है। कम-से-कम अभी तो ऐसा ही लगता है। भविष्य में क्या होगा, इसके बारे में अभी कुछ भी कहना सही नहीं होगा। आम आदमी पार्टी का लोकरंजकतावाद दक्षिणपंथी लोकरंजकतावाद था। लेकिन कॉकरोच जनता पार्टी का लोकरंजकतावाद अधिक सेण्ट्रिस्ट चरित्र रखता है और पूँजीवादी लोकतन्त्र को आज के दौर में उसकी सबसे घृणास्पद हो चुकी कुछ विशिष्टताओं से साफ़ करने का लक्ष्य रखता है, जिन पर इस समय जनता में सबसे ज़्यादा गुस्सा है।

इस 'पार्टी' ने अब तक अपना कोई आर्थिक कार्यक्रम सामने नहीं रखा है, इसलिए हम नहीं जानते कि नये लेबर कोड, निजीकरण, देश की प्राकृतिक सम्पदा को पूँजीपति वर्ग (केवल अडाणी और अम्बानी नहीं, बल्कि पूरे पूँजीपति वर्ग) को सौंपे जाने, ग़रीब किसानों के हित में धनिक वर्गों पर विशेष कर लगा कर लागत-मूल्य को घटाने की माँग, मनरेगा को ख़त्म किये जाने, आदि केन्द्रीय आर्थिक प्रश्नों पर उसका क्या कहना है। अभी उसका जो घोषणापत्र सामने आया है उसका निशाना आज के निज़ाम और उसे चलाने वाले हुक़्मरानों की सबसे अश्लील हो चुकी विशिष्टताएँ हैं और निश्चित तौर पर उस पर व्यंग्यात्मक शैली में हमला करके इस पार्टी ने देश के मध्यवर्गीय युवाओं की नब्ज़ पर हाथ रखा है। उसके द्वारा, शिक्षा मन्त्री धर्मेन्द्र प्रधान के इस्तीफ़े के लिए ऑनलाइन याचिका पर 6 लाख से ज़्यादा हस्ताक्षर हो चुके हैं। यह माँग भी बिल्कुल दुरुस्त है क्योंकि भाजपा सरकार आने के बाद से जारी परीक्षा घोटाला के दोषियों पर कार्रवाई होनी ही चाहिए और कुछ प्यादों को पकड़कर बड़े खिलाड़ियों को बचाने की कोशिश को नाकाम किया जाना चाहिए। इसलिए अभी तक जितने तथ्य सार्वजनिक तौर पर मौजूद हैं, उसके आधार पर कॉकरोच जनता पार्टी का यही विश्लेषण किया जा सकता है कि यह मध्यवर्गीय गुस्से को अभिव्यक्ति दे रही है, जो भ्रष्टाचार, विविध न्यायाधीशों की असंवेदनशील, निरंकुश व ग़ैर-जनवादी बातों, परीक्षा घोटाले, भाजपा नेताओं की राजनीतिक अश्लीलता के कारण उसके भीतर भरा हुआ है। इसके प्रस्तावों का चरित्र मूलत: और मुख्यत: सेण्ट्रिस्ट लोकरंजकतावादी प्रतीत होता है, जो आम आदमी पार्टी से इसे एक अलग परिघटना बना देता है। साथ ही, यह किसी सामाजिक आन्दोलन से निकली परिघटना नहीं है, बल्कि अभी मुख्यत: एक ऑनलाइन परिघटना है। लेकिन इससे इसका महत्व कम नहीं हो जाता। समकालीन विश्व के इतिहास से ऐसे कई उदाहरण मिलते हैं जिसमें बड़े सामाजिक आन्दोलनों की शुरुआत के लिए एक 'ट्रिगर' का काम करने वाली बात या बयान पहले किसी ऑनलाइन माध्यम पर ही आये थे, लेकिन चूँकि वे एक 'टिपिंग प्वाइण्ट' पर आये थे, इसलिए उन्होंने किसी बड़े सामाजिक आन्दोलन की शुरुआत कर दी।

हमारे देश में जिस तरह से जनता की ज़िन्दगी के हालात बद से बदतर हो रहे हैं, उसे देखते हुए ही कॉकरोच जनता पार्टी की परिघटना से भाजपा सरकार और संघ परिवार इस क़दर डरा हुआ है कि उसके ऑनलाइन हैण्डलों व वेबसाइट को बन्द करवा दिया गया है। यह मूर्खतापूर्ण कार्रवाई है। इससे वे ठीक उन्हीं चीज़ों को बढ़ावा दे रहे हैं, जिनके बारे में सोचकर उनकी रूह काँप जाती है! इस प्रकार के तानाशाहाना क़दमों से कभी जनता की प्रतिक्रिया को स्थायी या दीर्घकालिक तौर पर दबाया नहीं जा सकता है। इसका असर अन्तत: उल्टा होता है। यह इस बात को भी प्रदर्शित करता है कि जनता के बीच मौजूदा निज़ाम की जन-वैधता (mass legitimacy) और जनता के बीच उसका राजनीतिक वर्चस्व कमज़ोर हो रहा है। अपनी जन-वैधता को लेकर आश्वस्त सरकारें इस प्रकार के राजनीतिक हमलों को पचा लेती हैं और उनके व्यंग्य को 'एप्रिशियेट' करने का नाटक भी करती हैं और कई बार तो कुछ माँगों को स्वीकार भी कर लेती हैं! लेकिन जिस पार्टी व उसकी सरकार का मक़सद ही समूची राज्यसत्ता के उपकरण पर अन्दरूनी तौर पर फ़ासीवादी कब्ज़ा कर चुनावों, लोकतान्त्रिक संस्थाओं और प्रक्रियाओं को बेअसर कर देना हो और उन्हें महज़ औपचारिक बना देना हो, उनके लिए न तो यह सम्भव होता है और न ही वांछनीय।

बहरहाल, कॉकरोच जनता पार्टी के सोशल मीडिया हैण्डलों और वेबसाइट को बन्द किया जाना कतई अलोकतान्त्रिक क़दम है और इसका विरोध किया जाना चाहिए। यह अभिव्यक्ति के अधिकार पर हमला है। किसी भी नागरिक या नागरिकों को सरकार और न्यायपालिका तक की आलोचना का पूरा अधिकार होता है। लेकिन बुरी तरह से डरा हुआ और भयाक्रान्त भारतीय शासक वर्ग किसी भी आलोचना और विरोध से इस क़दर घबराया हुआ है कि असहमति और विरोध की हर आवाज़ को दबा देने पर आमादा है। अन्तत: ऐसे तानाशाहाना क़दम ही उसकी मुश्किलें बढ़ाने वाले हैं। दूसरी बात, जनता की माँगों को एक उपयुक्त रूप में राजनीतिक अभिव्यक्ति दिये जाने की आवश्यकता है। मध्यवर्गीय प्रस्थान-बिन्दु से भ्रष्टाचार, अय्याशी आदि के कुछ उदाहरणों और लोकतन्त्र की कुछ प्रक्रियाओं के हनन पर व्यंग्यात्मक टिप्पणी मात्र कर देना पर्याप्त नहीं है। यह अन्त में जनता की राजनीतिक आकांक्षाओं को अनुत्पादक दिशा में मोड़कर महज़ एक भड़ास निकालने का माध्यम बनकर रह जायेगा।

क्यों लगातार गिर रहा है भारतीय रुपया?

• अभिनव

भारतीय रुपया मोदी सरकार के कार्यकाल के दौरान अपने निम्नतम स्तर पर पहुँच चुका है। इस समय भारतीय रुपया एशिया की सबसे ख़राब प्रदर्शन करने वाली मुद्रा है। मोदी जी ने प्रधानमन्त्री बनने से पहले (और प्रधानमन्त्री बनने के लिए!) यह बयान दिया था कि किसी देश की मुद्रा का गिरना उस देश की अर्थव्यवस्था और उसकी प्रतिष्ठा का गिरना है। मतलब, एक बार उन्होंने सच बोला था! लेकिन अब मोदी सरकार के मन्त्री (क्योंकि ख़ुद मोदी जी किसी ठोस प्रश्न पर कुछ बोलते ही नहीं हैं) कह रहे हैं कि "रुपया अपना स्तर ख़ुद ढूँढ लेगा, चिन्तित होने की कोई बात नहीं है!" सही बात है! देश के अमीरज़ादों और धन्नासेठों के लिए निश्चित ही कोई चिन्तित होने की बात नहीं है। लेकिन देश के ग़रीबों को इसकी भारी क़ीमत चुकानी पड़ रही है और आगे इससे भी भयंकर क़ीमत चुकानी पड़ेगी।

लेकिन भारतीय रुपया गिर क्यों रहा है? ज़ाहिर है कि इसके लिए गुरुत्वाकर्षण की शक्ति तो ज़िम्मेदार नहीं है! हम मज़दूरों-मेहनतकशों को भी समझना चाहिए कि हमारे देश की मुद्रा के इस अभूतपूर्व अवमूल्यन के कारण क्या हैं। यह लेख लिखे जाने तक भारतीय रुपया अपने ऐतिहासिक निम्न स्तर पर पहुँच चुका था : 1 अमेरिकी डॉलर में 96 रुपये। मई 2025 में 1 अमेरिकी डॉलर 85 रुपये के बराबर था और साल भर के भीतर ही यह 96 रुपये के क़रीब पहुँच गया है और कई अर्थशास्त्री अभी से ही इस बात का कयास लगा रहे हैं कि भविष्य में यह 100 के निशान को भी पार कर जायेगा। इस भारी गिरावट की वजह क्या है? हम बुनियादी सरल बातों को समझते हुए इन वजहों को समझेंगे।

अन्तरराष्ट्रीय मुद्रा विनिमय-दर क्या है?

अन्तरराष्ट्रीय विनिमय-दर यह बताती है कि अन्तरराष्ट्रीय मुद्रा बाज़ार में किसी राष्ट्रीय मुद्रा की क्या "क़ीमत" है। *सटीक वैज्ञानिक अर्थों में कहा जाय तो मुद्रा की कोई क़ीमत नहीं होती, बल्कि मुद्रा ही वह इकाई व माध्यम है जिसमें क़ीमत को अभिव्यक्त किया जाता है।* दूसरे शब्दों में, मुद्रा की क़ीमत की बात करना वैसा ही है जैसा कि यह कहना कि "1 किलोग्राम का वज़न 1 किलोग्राम है।" यानी, एक मूर्खतापूर्ण दुहराव। लेकिन बुर्जुआ अर्थशास्त्री इसी प्रकार के गोल चक्करों में फँसे होते हैं।

तो फिर विनिमय दर का अर्थ क्या हुआ? यह किसी भी देश की राष्ट्रीय मुद्रा की अन्य राष्ट्रीय मुद्राओं की तुलना में सापेक्षिक मूल्य को प्रदर्शित करता है। मुद्राएँ हमेशा राष्ट्रीय वर्दियाँ पहने होती हैं, जैसा कि मार्क्स ने बताया था। यानी अलग-अलग देशों की अलग-अलग मुद्राएँ होती हैं, उनके नाम, उनके चिह्न अलग-अलग होते हैं, उनकी पोशाक अलग-अलग होती हैं। जब एक राष्ट्रीय मुद्रा को दूसरी राष्ट्रीय मुद्रा में परिवर्तित किया जाता है, तो उनके सापेक्षिक मूल्य के अनुसार ही उनके विनिमय की दर तय होती है।

यह भी याद रखना चाहिए कि मौजूदा दौर पूर्ण रूप से स्वर्ण-असमर्थित काग़ज़ी मुद्रा का है। एक दौर था जब सोने और चाँदी की मुद्राएँ चलती थीं। उसके बाद, सोने और चाँदी की मुद्राओं की प्रतिनिधि धातु मुद्राओं जैसे तांबा, काँसा आदि की मुद्राओं का दौर आया जो सोने/चाँदी की मुद्रा की निश्चित मात्राओं की नुमाइन्दगी करती थीं। ऐसा क्यों हुआ? क्योंकि धात्विक मुद्राओं का संचरण ही उन्हें घिस डालता है और वास्तव में ये धात्विक मुद्राएँ कालान्तर में उक्त धातु (मसलन सोना या चाँदी) की उतनी मात्रा की नहीं रह जाती हैं, जितनी वे मूलत: थीं। जैसे कि अगर सोने का कोई सिक्का 20 ग्राम का था, तो 2 वर्ष परिचलन में रहने के बाद वह महज़ 17 ग्राम का रह जाता है क्योंकि उसकी घिसाई हो जाती है। लेकिन बाज़ार में अभी भी वह 20 ग्राम सोने के मूल्य की ही नुमाइन्दगी करता है। इस प्रकार यह घिसा हुआ सिक्का अब 20 ग्राम सोने का प्रतिनिधि बन जाता है, वह उसका प्रतीक बन जाता है। इसी वजह से कालान्तर में सोने व चाँदी के सिक्कों के साथ या उनकी जगह सस्ती धातुओं के सिक्के परिचलन में आ गये। सस्ती धातु का हर सिक्का सोने या चाँदी की एक निश्चित मात्रा का प्रतीक मात्र होता है। कहने की आवश्यकता नहीं है कि पूरा समाज इसे सोने के प्रतीक के तौर स्वीकार करे, इसके लिए इस सिक्के को राज्यसत्ता से वैधीकरण मिलना चाहिए, यानी उसकी मुहर इस पर लगी होनी चाहिए।

बहरहाल, इसी बुनियादी तर्क के कारण सस्ती धातुओं के सिक्कों के बाद ऐसी काग़ज़ी मुद्राओं का दौर आया जो सोने/चाँदी की मुद्रा की निश्चित मात्राओं की नुमाइन्दगी करती थीं, लेकिन शुरुआत में इन काग़ज़ी मुद्राओं को राज्य के केन्द्रीय बैंक की खिड़कियों पर सोने/चाँदी की मुद्रा में तब्दील किया जा सकता था। ये *स्वर्ण-समर्थित सोने में परिवर्तनीय काग़ज़ी मुद्रा* थी, जो सोने में आधिकारिक तौर पर सरकारी बैंक की खिड़की पर परिवर्तनीय थी। इसके बाद ऐसी काग़ज़ी मुद्रा का दौर आया जिसका मूल्य स्वर्ण-मुद्रा द्वारा ही निर्धारित होता था, लेकिन वह आधिकारिक तौर पर सरकारी बैंक की खिड़कियों पर सोने/चाँदी में परिवर्तनीय नहीं थी। *यह स्वर्ण-समर्थित आधिकारिक तौर पर सोने में अपरिवर्तनीय काग़ज़ी मुद्रा थी।*

अन्तत:, 1930 के दशक से एक प्रक्रिया शुरू हुई जो 1970 के दशक में मक़ाम पर पहुँची, जिसमें एक काग़ज़ी मुद्रा अस्तित्व में आयी जो आधिकारिक तौर पर स्वर्ण-समर्थित भी नहीं थी, यानी, जिसका मूल्य सोने या किसी मुद्रा-माल (ऐसा माल जो मुद्रा की भूमिका सार्वभौमिक तौर पर अदा करता हो) द्वारा निर्धारित नहीं होती थी। *इसे शुद्ध रूप से फ़ियेट मुद्रा कहा जाता है, जो औपचारिक और आधिकारिक तौर पर किसी एक मुद्रा-माल द्वारा समर्थित नहीं है।* पूँजीवादी माल उत्पादन के विकास के साथ मुद्रा के मामले धात्विक बैरियर को एक न एक दिन टूटना ही था। मार्क्स का मुद्रा का सिद्धान्त ही इस परिघटना को समझने के बुनियादी उपकरण दे देता है। अब इस पूर्ण रूप से स्वर्ण-असमर्थित काग़ज़ी मुद्रा का मूल्य कैसे निर्धारित होता है? इस पर हम 'मज़दूर बिगुल' की क्रान्तिकारी मज़दूर शिक्षण-माला में लिख चुके हैं, इसलिए यहाँ हम बस इशारा करने तक अपने आपको सीमित रखेंगे और दिलचस्पी रखने वाले पाठकों से शिक्षण-माला की प्रासंगिक किश्त (https://mazdoorbigul.net/archives/15997 - 'स्वर्ण असमर्थित काग़ज़ी मुद्रा (फ़ियेट मुद्रा) के विशिष्ट मार्क्सवादी नियम', जून 2023, *मज़दूर बिगुल*) का अध्ययन करने का आग्रह करेंगे। आज इस पूर्ण रूप से काग़ज़ी मुद्रा का मूल्य देश में कुल मालों (वस्तुओं और सेवाओं) के मूल्य से और पूँजी निवेश हेतु मुद्रा-पूँजी की माँग के स्तर से निर्धारित होती है, जो माँग स्वयं किसी अर्थव्यवस्था में मुनाफ़े की औसत दर से निर्धारित होती है। यदि इस काग़ज़ी मुद्रा को कुल माल उत्पादन के मूल्य और मुद्रा-पूँजी की माँग की तुलना में ज़्यादा छापा जाता है, तो देश में उसका मूल्य गिरेगा और महँगाई बढ़ेगी।

लेकिन ऐसा बिल्कुल मुमकिन है कि देश के भीतर काग़ज़ी मुद्रा के अधिक छापे जाने या न छापे जाने से बिल्कुल स्वतन्त्र अन्तरराष्ट्रीय बाज़ार में किसी देश की मुद्रा का अन्य देशों की मुद्राओं की तुलना में अवमूल्यन हो, या कुछ देशों की मुद्राओं की तुलना में उनका अवमूल्यन हो। इसलिए अन्तरराष्ट्रीय मुद्रा विनिमय-दरें शुद्ध रूप से देश के भीतर किसी मुद्रा के अन्य मालों की तुलना में अवमूल्यन या उनके मूल्य के बढ़ने से तय नहीं होती हैं। फिर उन्हें तय करने वाले कारक क्या होते हैं?

इसको इस प्रकार से समझें। अन्तरराष्ट्रीय बाज़ार में जब किसी मुद्रा की माँग अन्य मुद्रा/मुद्राओं के सापेक्ष बढ़ती है, तो उस मुद्रा या उन मुद्राओं के सापेक्ष इस मुद्रा का मूल्य बढ़ता है। इसके उलट, अगर अन्य मुद्रा/मुद्राओं के सापेक्ष इस मुद्रा की माँग घटती है, तो उस मुद्रा या उन मुद्राओं के सापेक्ष इस मुद्रा का मूल्य घटता है। यानी, अगर डॉलर को रुपये में परिवर्तित करने की जितनी माँग है, उसके मुक़ाबले रुपये को डॉलर में परिवर्तित करने की माँग ज़्यादा है, तो रुपये का मूल्य डॉलर की तुलना में गिरेगा और अगर इसका उल्टा है तो रुपये का मूल्य डॉलर की तुलना में बढ़ेगा। लेकिन किसी भी मुद्रा की तुलना में रुपये की माँग में बढ़ोत्तरी या कमी होने के पीछे क्या कारक काम करते हैं?

किसी मुद्रा की विनिमय-दर को प्रभावित करने वाले बुनियादी कारक क्या हैं?

सबसे पहला और बुनियादी कारक है व्यापार-सन्तुलन। अगर भारत देश किसी अन्य देश या देशों को निर्यात कम करता है और उससे या उनसे आयात ज़्यादा करता है, तो उन देशों के साथ उसका नकारात्मक व्यापार-सन्तुलन होगा, या उन देशों के सापेक्ष भारत व्यापार-घाटा झेल रहा होगा। ऐसा होने पर रुपये की माँग उस देश या उन देशों की मुद्रा की तुलना में घटेगी। अगर भारत इन देशों को निर्यात ज़्यादा करता है और उनसे आयात कम करता है, तो इसका उलट होगा। यानी उन देशों के सापेक्ष भारत का व्यापार-सन्तुलन सकारात्मक होगा और उन देशों का भारत के सापेक्ष व्यापार-घाटा होगा। ऐसा होने पर उन देशों की मुद्राओं (या जिस मुद्रा या जिन मुद्राओं में वे अन्तरराष्ट्रीय व्यापार करते हैं) की तुलना में रुपये की माँग बढ़ेगी और उसका मूल्य भी इन मुद्राओं की तुलना में बढ़ेगा।

अन्तरराष्ट्रीय व्यापार में इस समय अधिकांश देश जिस मुद्रा का सबसे ज़्यादा इस्तेमाल करते हैं, वह है अमेरिकी डॉलर, हालाँकि यह रुझान पिछले दो-तीन दशकों से घट रहा है। लेकिन अभी भी जिस मुद्रा में अन्तरराष्ट्रीय व्यापार सबसे ज़्यादा होता है, वह डॉलर ही है। इस वजह से अन्य देश भी अपने विदेशी मुद्रा भण्डार में पर्याप्त मात्रा में डॉलर चाहते हैं और प्रभावत: वे अमेरिका से डॉलर अपनी वस्तुओं और सेवाओं के बदले ख़रीदते हैं क्योंकि अन्य देशों से व्यापार में भी उन्हें अक्सर ही डॉलर की आवश्यकता पड़ती है। लेकिन डॉलर की यह बिना किसी चुनौती वाली वर्चस्वकारी स्थिति नहीं रह गयी है, हालाँकि अभी भी विश्व व्यापार में सबसे ज़्यादा इस्तेमाल की जाने वाली मुद्रा डॉलर ही है। बहरहाल, ऐसे में, अगर भारत का कुल माल निर्यात उसके कुल माल आयात से कम होगा, तो रुपये का मूल्य डॉलर के मूल्य की तुलना में गिरेगा। इसे *करेण्ट एकाउण्ट डेफ़िसिट* कहा जाता है। यानी, आयात-निर्यात का भारत वर्तमान सन्तुलन नकारात्मक में है।

जब किसी देश का व्यापार सन्तुलन नकारात्मक में होता है, यानी उसे व्यापार घाटा हो रहा होता है, तो इसका उस देश की मुद्रा के लिए क्या निहितार्थ होता है? एक उदाहरण से समझते हैं। जब कोई निर्यातक पूँजीपति हमारे देश में मज़दूरों का शोषण कर जिस माल का उत्पादन करता है, उसे विदेशी बाज़ार में बेचता है, तो उसे डॉलर, यूरो, आदि मुद्राओं में भुगतान प्राप्त होता है जिसे वह हमारे देश में रुपयों में परिवर्तित करता है। यानी भारतीय रुपये की माँग बढ़ती है। नतीजतन, डॉलर/यूरो आदि के सापेक्ष भारतीय रुपये का मूल्य भी बढ़ता है और उसकी विनिमय-दर बढ़ती है। उसके विपरीत, जब निर्यात के सापेक्ष भारत के आयात बढ़ते हैं, तो रुपयों को अन्य मुद्राओं, मसलन, डॉलर, यूरो आदि में परिवर्तित करने की माँग बढ़ती है। यानी, रुपयों के सापेक्ष इन अन्य विदेशी मुद्राओं की माँग और मूल्य बढ़ता है।

संक्षेप में, अगर भारत के आयात भारत के निर्यात से ज़्यादा हैं, तो इसे बाक़ी दुनिया को विदेशी मुद्राओं में जो भुगतान करना होता है, वह विदेशी मुद्राओं में उसे प्राप्त होने वाले भुगतान की मात्रा से ज़्यादा होता है और नतीजतन भारतीय मुद्रा अन्य प्रमुख विदेशी मुद्राओं के तुलना में अवमूल्यन का शिकार होती है। अगर भारत के निर्यात उसके आयात से ज़्यादा होते, तो उसे बाक़ी दुनिया को विदेशी मुद्राओं में जितना भुगतान करना होता उससे ज़्यादा भुगतान विदेशी मुद्राओं में उसे प्राप्त होते। पहले मामले में अन्य विदेशी मुद्राओं में रुपयों को परिवर्तित करने की माँग अन्य विदेशी मुद्राओं को रुपयों में परिवर्तित करने की माँग से ज़्यादा होगी और दूसरे मामले में अन्य विदेशी मुद्राओं में रुपयों को परिवर्तित करने की

(अगले पेज पर जारी)

क्यों लगातार गिर रहा है भारतीय रुपया?

(पिछले पेज से आगे)

माँग अन्य विदेशी मुद्राओं को रुपयों में परिवर्तित करने की माँग से कम होगी। पहली स्थिति में रुपये की माँग सापेक्षिक रूप से घटने के कारण वह अन्य विदेशी मुद्राओं की तुलना में अवमूल्यित होगा और दूसरी स्थिति में रुपये की माँग सापेक्षिक रूप से बढ़ने के कारण वह अन्य विदेशी मुद्राओं की तुलना में मज़बूत होगा, यानी उसका सापेक्षिक मूल्य बढ़ेगा।

भारत द्वारा लगातार लम्बे समय से झेला जाने वाला और बढ़ रहा करेण्ट अकाउण्ट घाटा वास्तव में भारतीय पूँजीवादी अर्थव्यवस्था की कमज़ोरी को दिखलाता है। अन्य कारकों की पुष्टि की स्थिति में (जिन पर हम आगे आयेंगे) यह दिखलाता है कि उत्पादक उद्यमों में पर्याप्त निवेश नहीं हो रहा है। पर्याप्त निवेश न होने की वजह क्या है? इसकी वजह यह है कि देश में पूँजीवादी अर्थव्यवस्था की मुनाफ़े की औसत दर कम है। यह सच है कि अकेले व्यापार-घाटा ही मुनाफ़े की औसत दर के संकट को नहीं सिद्ध करता है। बहुत-से ऐसे पूँजीवादी देश हैं, जो व्यापार-घाटा झेल रहे होते हैं लेकिन उसके बावजूद उनकी अर्थव्यवस्था उस क्षण लाभप्रदता के संकट से नहीं गुज़र रही होती है। दूसरे शब्दों में, अकेले व्यापार-घाटा ही मुनाफ़े की दर के संकट को नहीं प्रदर्शित करता है। व्यापार-घाटा किसी देश की विश्व पूँजीवादी व्यवस्था में विशिष्ट अवस्थिति के कारण भी हो सकता है। लेकिन यह उस अर्थव्यवस्था में मुनाफ़े की औसत दर के गिरने के संकट की एक सम्भव अभिव्यक्ति भी हो सकता है।

भारत लम्बे समय से व्यापार घाटा झेलता आया है, यानी ठोस मालों का उसका आयात ठोस मालों के उसके निर्यात से लम्बे समय से कम रहा है। नतीजतन, उसे करेण्ट अकाउण्ट डेफ़िसिट झेलना पड़ता है। इसे एक हद तक प्रति-सन्तुलित करने का काम भारत द्वारा सेवाओं, विशेषकर सॉफ़्टवेयर के निर्यात, और दूसरा, विदेशों में जाकर काम करने वाले भारतीय श्रमिकों और कर्मचारियों द्वारा घर वापस भेजी जाने वाली विदेशी मुद्रा द्वारा होता है, जिसे भारत में रुपयों में तब्दील किया जाता है और जो भारतीय रुपयों की माँग बढ़ाता है और उसका सापेक्षिक मूल्य भी कुछ बढ़ता है। लेकिन इसी से भारत का करेण्ट अकाउण्ट घाटा समाप्त नहीं होता।

भारत को इस करेण्ट अकाउण्ट घाटे को आंशिक तौर पर झेल पाने में जो दूसरा अन्य कारक मदद करता है, वह है विदेशी पूँजी का भारत में निवेश। इसे *कैपिटल अकाउण्ट कहते हैं।* विदेशी पूँजी का यह प्रवाह दो प्रकार का होता है: पहला, जिसे *प्रत्यक्ष विदेशी निवेश (फ़ॉरेन डायरेक्ट इन्वेस्टमेण्ट - एफ़. डी.आई.)* कहा जाता है, और दूसरा, जिसे *विदेशी पोर्टफ़ोलियो निवेश (फ़ॉरेन पोर्टफ़ोलियो इन्वेस्टमेण्ट - एफ़.पी. आई.)* कहा जाता है। एफ़.डी.आई. वह विदेशी निवेश है जो वास्तव में किसी उत्पादक उद्यम में, मसलन, कारखाना उत्पादन या किसी सेवा के उत्पादन में निवेशित होता है। दूसरी ओर, एफ़.पी. आई. उड़नछू पूँजी है जो तुरत-फुरत मुनाफ़ा पीटने के लिए सट्टेबाज़ी, शेयर बाज़ाद आदि में लगती है और संकट की पहली आहट पर विनिवेशित हो जाती है, यानी उड़नछू हो जाती है।

अगर किसी देश की अर्थव्यवस्था से विशेष तौर पर प्रत्यक्ष विदेशी पूँजी निवेश पलायन कर रहा है, तो यह स्पष्ट तौर पर उक्त देश में मुनाफ़े की गिरती औसत दर के संकट को प्रदर्शित करता है। उड़नछू पूँजी, यानी सट्टेबाज़ पूँजी के पोर्टफ़ोलियो निवेश के आने या जाने की दर *अपने आप में*, मुनाफ़े की औसत दर के संकट के बारे में कुछ नहीं बताती। असल चीज़ है प्रत्यक्ष विदेशी निवेश जो उत्पादक उद्यमों में लगता है, यानी मैन्युफ़ैक्चरिंग इकाइयों, कारखानों, सेवाओं के उत्पादन आदि में।

अगर विदेशी निवेश (दोनों प्रकार का) घट रहा है और कुल पूँजी प्रवाह नकारात्मक में है (यानी जितनी पूँजी आ रही है, उससे ज़्यादा पूँजी जा रही है) तो यह दिखलाता है कि रुपये में आकलित एसेट्स में पूँजी निवेश घट रहा है, जबकि अन्य, विशेषकर डॉलर वाले एसेट्स, में निवेश बढ़ रहा है। दूसरे शब्दों में, जो पूँजी निवेश के लिए भारत आती है और विशेष तौर पर वह जो कि उत्पादक उपक्रमों में लगती है वह भारतीय रुपये के लिए मौजूद माँग को बढ़ाती है। जबकि जो पूँजी भारत में निवेशित उपक्रमों से पलायन करती है, वह रुपये के लिए मौजूद माँग को घटाती है। इसलिए अगर कुल पूँजी प्रवाह या उसका आवागमन नकारात्मक में है, तो यह भारतीय रुपये के लिए माँग को घटायेगा। नतीजतन, रुपये का मूल्य अन्य विदेशी मुद्राओं, विशेषकर डॉलर के सापेक्ष गिरेगा। यहाँ तक कि घरेलू निवेशक भी अगर भारत में निवेश करने के बजाय किसी अन्य देश में निवेश ज़्यादा करते हैं, तो यह रुपये के सापेक्षिक माँग और इसलिए अन्तरराष्ट्रीय बाज़ार में अन्य विदेशी मुद्राओं की तुलना में उसके सापेक्षिक मूल्य में गिरावट लायेगा। यह परिघटना भी इस समय बड़े पैमाने पर सामने आ रही है।

यानी, जब भी करेण्ट एकाउण्ट घाटा बढ़ेगा और साथ ही पूँजी का शुद्ध प्रवाह नकारात्मक होगा, तब अन्तरराष्ट्रीय बाज़ार में रुपये के मूल्य पर गिरने का दबाव पैदा होगा। हम हालिया वर्षों में हर उस दौर को देख सकते हैं, जबकि रुपया तेज़ी से गिरा है और यह बात शब्दश: सही साबित होती है। ये ठीक वे ही दौर हैं जब व्यापार घाटा बढ़ा है और पूँजी का पलायन बढ़ा है। मिसाल के तौर पर, अप्रैल-सितम्बर 2013 जब रुपया 54.4 रुपया प्रति डॉलर से गिरकर 63.8 रुपया हो गया; जनवरी-अक्टूबर 2018 जब रुपया 63.6 से गिरकर 73.6 प्रति डॉलर हो गया; जनवरी-अक्टूबर 2022 जब रुपया 74.4 से गिरकर 82.3 प्रति डॉलर हो गया; सितम्बर 2024 से फ़रवरी 2025 जब रुपया 83.3 से 87.1 प्रति डॉलर पहुँच गया; और अब का दौर यानी मई 2025 से मई 2026 जब यह 85.2 से क़रीब 96 प्रति डॉलर तक पहुँच गया। ये सारी अवधियाँ वे अवधियाँ हैं जब व्यापार घाटा बढ़ा है और भारत में देश के भीतर और बाहर दोनों से ही पूँजी निवेश सापेक्ष तौर पर कम हुआ है। यानी जितनी पूँजी अर्थव्यवस्था में आयी है, उससे ज़्यादा बाहर गयी है। पूँजी हमेशा मुनाफ़ा ढूँढती है। अगर किसी अर्थव्यवस्था से पूँजी का बाहर की ओर प्रवाह अन्दर की ओर होने वाले प्रवाह से ज़्यादा है, तो यह लाभप्रदता के संकट की एक अभिव्यक्ति होती है।

भारत को व्यापार-घाटे के बरक्स भुगतान करने के लिए विदेशी मुद्रा चाहिए होती है। यह विदेशी मुद्रा उसे एफ़.डी.आई. और मुख्य रूप से एफ़. पी.आई. से मिलती है। एफ़.पी.आई. जो कि सट्टेबाज़ उड़नछू पूँजी है, वह अपनी प्रकृति से ही अटकलों पर चलती है। मसलन, अगर भारतीय अर्थव्यवस्था की वृद्धि के प्रोजेक्शन ऊँचे होंगे, तो वह भारतीय बाज़ार में निवेशित होती है अन्यथा वह भारतीय बाज़ारों से उड़नछू हो जाती है। अब जबकि भारतीय अर्थव्यवस्था की वृद्धि के भावी आकलन नीचे आ रहे हैं, तो यह उड़नछू पूँजी अपनी असल प्रकृति दिखाते हुए उड़नछू हो रही है! भारत में सकल अचल पूँजी निर्माण की दर कोविड-19 के पहले के स्तर पर भी नहीं पहुँच पायी है और लगातार असन्तोषजनक स्तर पर बनी हुई है। यह दिखलाता है कि उत्पादन के साधनों (मशीनों, उपकरणों, आदि) की ख़रीद की दर कम है। यानी, निजी पूँजी निवेश की दरें लगातार निचले स्तर पर बनी हुई हैं। इसके कारण, पूँजीवादी निवेशकों के बीच भारतीय अर्थव्यवस्था में भरोसे में कमी आयी है। नतीजा यह है कि 1 अप्रैल 2025 से ही यानी क़रीब एक वर्ष में 26 अरब डॉलर का एफ़.पी.आई. भारतीय अर्थव्यवस्था से उड़नछू हो गया। वहीं 2024-25 में एफ़.डी.आई. का शुद्ध प्रवाह -0.5 अरब डॉलर था। अगस्त 2025 से जनवरी 2026 के दौरान यह प्रवाह लगातार नकारात्मक बना रहा है। ऐसा होने की प्रमुख वजह ही भारतीय अर्थव्यवस्था में मुनाफ़े की औसत दर का गिरना है क्योंकि निवेश की दर तभी गिरती है जब लाभप्रदता कम होती है।

अब देख लेते हैं कि मौजूदा भारतीय अर्थव्यवस्था में करेण्ट अकाण्ट (यानी व्यापार-सन्तुलन) की क्या स्थिति है। करेण्ट अकाउण्ट घाटा 2024-25 में 23.1 अरब डॉलर का था। यह और ज़्यादा होता, अगर सेवाओं, विशेषकर सॉफ़्टवेयर व तथाकथित "अदृश्य मालों" का निर्यात भारत से बढ़ा न होता। वजह यह कि अगर ठोस वस्तुओं के व्यापार में घाटे को देखें तो यह 2023-24 के 244.9 अरब डॉलर से बढ़कर 286.9 अरब डॉलर तक पहुँच गया था। कैपिटल अकाण्ट की बात करें तो वह 2023-24 में भी सकारात्मक था और 2024-25 में भी सकारात्मक रहा, लेकिन यह पहले से कम हो गया। 2023-24 में पूँजी खाता +89.4 अरब डॉलर था, जो 2024-25 में घटकर +16.6 अरब डॉलर रह गया। वजह? विदेशी निवेश इसी दौर में 54.2 अरब डॉलर से घटकर 4.52 अरब डॉलर रह गया। दूसरी ओर, विदेशी कर्ज़ 6.5 अरब डॉलर से बढ़कर 29.3 अरब डॉलर पहुँच गया, जिसने कुछ शुद्ध प्रवाह में कमी को कम दिखला दिया। वहीं भारत में आम तौर पर सकल अचल पूँजी निर्माण की दर भी निम्न बनी हुई है, जिसका हमने ऊपर ज़िक्र किया और साथ ही ख़रीदार प्रबन्धक सूचकांक (परचेज़िंग मैनेजर्स इण्डेक्स - पी.एम.आई.) जो पूँजीपतियों के बीच की आपसी ख़रीद, यानी उत्पादन के साधनों की ख़रीद का सूचकांक है, वह भी ठहरावग्रस्त है, हालाँकि वह कई अन्य पूँजीवादी देशों से बेहतर है। इसकी वजह भी यह है कि भारत में मज़दूर वर्ग की वास्तविक मज़दूरी को बेहद नीचे गिराकर मुनाफ़े की औसत दर को उस भारी गिरावट से एक हद तक रोका गया है, जिसका सामना अन्य कई पूँजीवादी देशों को करना पड़ा है। दूसरे शब्दों में, भारतीय अर्थव्यवस्था में मुनाफ़े की औसत दर में गिरावट की गति को कम करने वाला एक कारक मज़दूरों की औसत आय को लगातार गिराना है। लेकिन अब यह प्रक्रिया भी अपनी अन्तिम सीमा तक पहुँच रही है, जैसा कि भारत के दर्ज़नों शहरों में मज़दूर वर्ग द्वारा बेहतर मज़दूरी और बेहतर कार्य-स्थितियों के लिए फूट पड़े स्वत:स्फूर्त संघर्षों ने दिखलाया है।

पूँजी का बाहर की ओर प्रवाह और व्यापार-घाटा किस आधारभूत कारक की ओर इशारा करते हैं?

पूँजी का बाहर की ओर प्रवाह और व्यापार-घाटा और उसके नतीजे के तौर पर किसी देश की मुद्रा का लगातार गिरना वास्तव में मुनाफ़े की औसत दर के गिरने के संकट को दिखलाता है। क्यों? भारत के निवेशक और साथ ही विदेशी निवेशकों द्वारा भारत से पूँजी का विनिवेश यह दिखलाता है कि भारतीय अर्थव्यवस्था में मुनाफ़े की औसत दर गिर रही है या ठहरावग्रस्त है। पूँजी निवेश को विनियमित करने वाला कारक होता है लाभप्रदता। यानी पूँजीपति द्वारा लगाये गये हरेक रुपये पर उसे कितना मुनाफ़ा हासिल हो रहा है। यह लाभप्रदता जिस जगह सबसे ज़्यादा होगी, पूँजीपति उस जगह अपनी पूँजी निवेश करेगा। अगर लाभप्रद निवेश के ऐसे अवसर ही बेहद कम हों, तो पूँजीपति अपनी पूँजी का सट्टेबाज़ निवेश करते हैं। यानी उन्हें उत्पादक उद्यमों में लगाने के बजाय वे उसे शेयर बाज़ार में, स्टॉक और बॉण्ड्स की ख़रीद में निवेशित करते हैं, जो काल्पनिक पूँजी का एक बुलबुला खड़ा करता है। यदि किसी देश में वित्तीय पूँजी का बुलबुला निर्मित हो रहा है, तो अधिक सम्भावना यही है कि उत्पादक उद्यमों में निवेश के लाभप्रद अवसर नहीं हैं, जिसकी वजह से पूँजीपति अपनी पूँजी को जुए और सट्टेबाज़ी में लगाते हैं।

व्यापार-घाटा तो बहुत-सी स्थितियों में हो सकता है। लेकिन पूँजी का देश से बाहर प्रवाह हो रहा हो, देशी पूँजीपति भी सापेक्षत: अपनी पूँजी का पहले से बड़ा हिस्सा देश के बाहर निवेशित कर रहे हों, तो यह इस बात का स्पष्ट संकेत है कि देश की पूँजीवादी अर्थव्यवस्था लाभप्रदता के संकट का शिकार है। रुपये की गिरावट में व्यापार-घाटा और पूँजी का बहिर्गमन, दोनों ही अहम भूमिका निभा रहे हैं और इन दोनों कारकों में से विशेष तौर पर पूँजी का बहिर्गमन लाभप्रदता के संकट को परिलक्षित करता है। चूँकि दुनिया भर में पूँजीवादी अर्थव्यवस्था लाभप्रदता के संकट का शिकार है, इसलिए अधिकांश भारतीय पूँजीवादी निवेशक जो अपनी पूँजी को भारत से बाहर ले जा रहे हैं, वे भी वित्तीय उपकरणों जैसे इक्विटी व बॉण्ड्स आदि में ज़्यादा निवेश कर रहे हैं। पिछले वर्ष के मुक़ाबले भारतीय निवेशकों ने विदेशी बाज़ारों में निवेश में 60 प्रतिशत से ज़्यादा बढ़ोत्तरी करते हुए, 2.2 अरब डॉलर से ज़्यादा निवेश किया है।

पश्चिम एशिया में ईरान पर अमेरिका और ज़ायनवादी सेटलर औपनिवेशिक राज्य इज़रायल द्वारा थोपे गये साम्राज्यवादी हमले के कारण निश्चित तौर पर स्थितियाँ भारत के लिए बद से बदतर हुई हैं। लेकिन भारतीय अर्थव्यवस्था के संकट का मूलभूत कारण पश्चिम एशिया में युद्ध नहीं है। युद्ध से पहले ही भारतीय अर्थव्यवस्था लाभप्रदता के संकट से जूझ रही थी। युद्ध के शुरू होने के बाद, भारत को दो संकटों का सामना करना पड़ा है: पहला, पेट्रोलियम उत्पादों की आपूर्ति में कमी और उनकी क़ीमतों में बढ़ोत्तरी (हालाँकि मोदी सरकार ने पिछले 12 वर्षों में पेट्रोलियम उत्पादों पर अप्रत्यक्ष करों का बोझ जिस क़दर बढ़ाया है, उसके कारण तेल कम्पनियों को आज भी घाटा नहीं बल्कि अरबों रुपये का फ़ायदा हो रहा है) और दूसरा, विशेष तौर पर पश्चिम एशिया के देशों में काम करने वाले भारतीय मज़दूरों का वापस

(अगले पेज पर जारी)

क्यों लगातार गिर रहा है भारतीय रुपया?

(पिछले पेज से आगे)

लौटना जिसके कारण उनके द्वारा भेजी जाने वाली भारी विदेशी मुद्रा में कमी आना और साथ ही देश के भीतर रोज़गार के संकट का और ज़्यादा गहराना। 10 लाख से ज़्यादा भारतीय मज़दूर पश्चिम एशिया से भारत वापस लौट चुके हैं। वैसे तो अहम सवाल यह है कि भारतीय मज़दूरों को परदेस जाकर ग़ुलामों जैसी स्थिति में खटना ही क्यों पड़ता है? हमारे देश में उन्हें जीवन-यापन योग्य मज़दूरी के साथ और सम्मान के साथ रोज़गार क्यों नहीं प्राप्त होता है? बहरहाल, अभी हम इस सवाल पर चर्चा नहीं करेंगे।

मोदी सरकार द्वारा बताये जाने वाले रुपये के अवमूल्यन झूठे फ़ायदे और उसके झूठे कारण

मोदी सरकार की वित्त मन्त्री निर्मला सीतारमण का कहना है कि "रुपया अपना स्तर ख़ुद ढूँढ लेगा, उसके बारे में चिन्तित होने की ज़रूरत नहीं है।" बात तो सही है! जैसे हर चीज़ अपना स्तर ख़ुद ढूँढ रही है, मसलन, भाजपा के नेता-मन्त्री, रोज़गार का स्तर, भुखमरी, कुपोषण आदि का स्तर। लेकिन अगर हर चीज़ को अपना स्तर ख़ुद ही ढूँढ लेना है, तो मोदी सरकार की ज़रूरत क्या है? मोदी ने प्रधानमन्त्री बनने से पहले कहा था कि रुपये की गिरावट पूरे देश की अर्थव्यवस्था और उसकी प्रतिष्ठा की गिरावट है। लेकिन अब रुपया गिरते-गिरते अपना स्तर ख़ुद ढूँढ रहा है!

मोदी सरकार यह भी कह रही है कि रुपये के गिरने का निर्यातक पूँजीपतियों को काफ़ी लाभ होगा। क्योंकि निर्यातक पूँजीपति अगर किसी कमीज़ को अमेरिका में 10 डॉलर में बेचते हैं, तो एक साल पहले भारतीय रुपये में उनकी आमदनी थी रु. 850 और आज उनकी आमदनी होगी रु. 960। इसमें सत्यांश है। लेकिन एक समस्या है। अगर निर्यातक पूँजीपतियों के उत्पादन में लगने वाले उत्पादन के साधनों का एक अच्छा-ख़ासा हिस्सा विदेशों से आयात किया जाता है, तो यह फ़ायदा नहीं मिलेगा, उल्टे नुक़सान होगा। क्यों? क्योंकि तब निर्यातकों के उत्पादन की लागत पहले के मुक़ाबले बढ़ जायेगी और विश्व बाज़ार में वे प्रतिस्पर्द्धी नहीं रह जायेंगे। भारत के निर्यातक पूँजीपतियों के उत्पादन में ऐसे उत्पादन के साधन बड़ी मात्रा में लगते हैं जिनका आयात होता है, विशेषकर, खनिज, कच्चे माल और कुछ मशीनें। ऐसे में, अगर कोई मशीन 100 डॉलर की है, तो वह एक वर्ष पहले निर्यातक पूँजीपति को रु. 8500 में मिलती थी और अब वह रु. 9600 में मिलती है। इसलिए मुद्रा के अवमूल्यन से हर हालत में निर्यातक पूँजीपतियों को लाभ ही होगा, इसकी कोई गारण्टी नहीं होती है। भारत में फ़िलहाल तो ऐसा नहीं हो रहा है।

साथ ही, यह भी याद रखना होगा कि भारत के आयातों में जिन मालों का सबसे ज़्यादा आयात होता है, उनमें से एक है तेल। तेल की क़ीमतें रुपये के गिरने के साथ भारत में और ज़्यादा बढ़ेंगी। कच्चे तेल की क़ीमत अगर विश्व बाज़ार में 100 डॉलर प्रति बैरल है, तो वह एक वर्ष पहले भारत को रु. 8500 में प्राप्त हो रहा था और अब वह रु. 9500 में प्राप्त होगा। यह हर वस्तु और सेवा की क़ीमत को बढ़ायेगा और बढ़ा रहा है और आम तौर पर महँगाई को बढ़ा रहा है।

एक और झूठ जो मोदी सरकार के मन्त्री लगातार बोल रहे हैं वह यह है कि रुपया नहीं कमज़ोर हो रहा है, बल्कि डॉलर मज़बूत हो रहा है। सच्चाई यह है कि डॉलर ख़ुद कमज़ोर हो रहा है! यानी रुपया एक गिरते हुए डॉलर के सामने और ज़्यादा गिर रहा है। डॉलर मज़बूत हो रहा है या कमज़ोर इस बात की पड़ताल करने के लिए एक डॉलर इण्डेक्स होता है, जो छह प्रमुख मुद्राओं के साथ डॉलर की विनिमय दरों का भारित औसत (weighted average) बताता है। यह भारित औसत डॉलर के लिए ट्रम्प के दूसरी बार सत्ता में आने के बाद से लगातार गिर रहा है। ट्रम्प के दूसरे बार राष्ट्रपति बनने के दिन यह भारित औसत यानी डॉलर इण्डेक्स था 108.2 रुपये जो मई में गिर कर 98.5 रुपये पर पहुँच चुका था। अमेरिकी डॉलर की गिरावट के कई कारण है, जिसके पीछे अमेरिकी अर्थव्यवस्था का संकट ही है। अगर आर्टिफिशियल इण्टेलिजेंस के क्षेत्र को छोड़ दें, तो अन्य सेक्टरों में अमेरिकी अर्थव्यवस्था बेहद पीछे छूट गयी है। मई 2025 में यूएस ट्रेज़री डाउनग्रेड हुई, जिसका सीधा असर डॉलर पर पड़ा और वह और कमज़ोर हुआ। ट्रम्प द्वारा छेड़े गये व्यापार-युद्ध और मुद्रा-युद्ध का अमेरिकी अर्थव्यवस्था पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा है। अमेरिकी नेतृत्व में पूँजीवादी विश्व का भरोसा कमज़ोर होता गया है और इज़रायल के नरसंहार के लिए उसका जारी समर्थन भी इसमें एक हद तक ज़िम्मेदार है। तमाम दावों के बावजूद अमेरिकी अर्थव्यवस्था में मैन्युफैक्चरिंग का कोई विचारणीय पुनर्जागरण नहीं हो पा रहा है। अमेरिका लम्बे समय से व्यापार घाटा भी झेल रहा है। पहले डॉलर और अमेरिकी सरकार बॉण्ड्स को लोग भरोसेमन्द और सुरक्षित निवेश के स्थान के तौर पर देखते थे। लेकिन वह स्थिति काफ़ी बदली है। दुनिया में अभी भी अधिकांश अन्तरराष्ट्रीय व्यापार डॉलर में होता है और इसीलिए अधिकांश देश अपने विदेशी मुद्रा भण्डार का अच्छा-ख़ासा हिस्सा डॉलर में रखते हैं। लेकिन इस मामले में भी काफ़ी बदलाव आया है। 2015 में विश्व के समस्त विदेशी मुद्रा भण्डार का 65.7 प्रतिशत डॉलर में था। लेकिन 2025 में विश्व के समस्त विदेशी मुद्रा भण्डार का केवल 55.7 प्रतिशत ही डॉलर में रह गया है। अब महज़ डॉलर छापकर अर्थव्यवस्था को चलाना अमेरिका के लिए पहले के मुक़ाबले मुश्किल होता जा रहा है। यह सच है कि अभी स्थिति में गुणात्मक परिवर्तन आने में कई वर्ष लगेंगे, लेकिन इतना तय है कि परिवर्तन की दिशा यही है : अमेरिकी वर्चस्व का निर्णायक ह्रास। वर्तमान दौर में अमेरिकी साम्राज्यवाद द्वारा बदहवासी में उठाये जा रहे तमाम क़दमों के पीछे वर्चस्व को खोने की प्रक्रिया से गुज़र रही एक साम्राज्यवादी शक्ति की घबराहट और बौख़लाहट ही है। ईरान पर थोपे गये साम्राज्यवादी युद्ध में वास्तव में अमेरिका-इज़रायल धुरी को बुरी तरह से मात खानी पड़ी है। दूसरी ओर, इसका सबसे ज़्यादा लाभ रूस-चीन धुरी को मिलने वाला है। आने वाले समय में दुनिया अन्य कई क्षेत्रीय अन्तरराष्ट्रीय युद्धों व सैन्य टकरावों की साक्षी बनेगी क्योंकि अभी तक दुनिया के इतिहास में कभी भी एक साम्राज्यवादी वर्चस्वकारी ताक़त ने पूर्ण रूप से शान्तिपूर्ण तरीक़े से अपना वर्चस्व किसी नयी उभरती ताक़त को नहीं सौंपा है। यह प्रक्रिया ठीक-ठीक कैसे घटित होगी, इसके बारे में कुछ नहीं बताया जा सकता है। लेकिन यह उथल-पुथल निश्चित तौर पर होगी।

बहरहाल, तो तथ्य यह है कि मोदी सरकार और उसके मन्त्रियों द्वारा रुपये के बेतरह गिरने के फ़ायदे बताने या फिर उसके नक़ली कारण बताने के प्रयास वास्तव में कुछ बुनियादी बातों को छिपाने के लिए हैं : एक, भारतीय अर्थव्यवस्था ढाँचागत तौर पर लाभप्रदता के संकट से गुज़र रही है; दो, इस संकट को और भी ज़्यादा विकराल बनाने में मोदी सरकार द्वारा किया गया अर्थव्यवस्था का कुप्रबन्धन और उसकी विवेकहीन विदेश नीति ज़िम्मेदार है; तीन, वास्तव में मन्दी झेल रही भारतीय अर्थव्यवस्था को पहले ही मोदी सरकार ने जो दो भूकम्प-समान झटके दिये थे, यानी नोटबन्दी और फिर योजनाविहीनता और तानाशाहाना तरीक़े से लागू किया गया कोविड लॉकडाउन, उससे भारतीय अर्थव्यवस्था कभी ढंग से उबर ही नहीं पायी थी; चार, देश के बड़े पूँजीपति वर्ग की चाव से सेवा करने के चक्कर में मोदी सरकार ने पूँजीवादी मानदण्डों से भी संकटग्रस्त अर्थव्यवस्था का आश्चर्यजनक कुप्रबन्धन किया है। अब इन चीज़ों का नतीजा देश की जनता भुगत रही है। अगर आर्थिक कारकों की गति का अध्ययन किया जाये तो स्पष्ट है कि इस बात की पर्याप्त सम्भावना है कि अभी हम संकट का कम बुरा दौर ही देख रहे हैं। संकट का सबसे बुरा दौर अभी आना है। इसकी भी पूरी गुंजाइश है कि देश के सबसे धनी पूँजीपतियों पर संकट को कोई बोझ न पड़े इसे सुनिश्चित करने के लिए मोदी सरकार जनता से फिर से पेट पर पट्टी बाँधने के लिए कहेगी, कुछ दिन माँगेगी, उससे भी बात नहीं बनेगी तो साम्प्रदायिक तनाव को नये सिरे से भड़कायेगी और जनसंख्या पर आयोग बनाकर दरअसल मोदी सरकार यही करने वाली है। मुसलमानों की जनसंख्या बढ़ने का झूठा हौव्वा खड़ा किया जायेगा, नये सिरे से "हिन्दू ख़तरे में है" के दावे किये जायेंगे।

देश की जनता को सावधान रहने की ज़रूरत है। हमारा ध्यान भटकाने के लिए तरह-तरह के प्रपंच और प्रहसन रचे जायेंगे क्योंकि हमारे जीवन के हालात, हमारे रोज़गार की स्थिति, महँगाई की हालत, सभी पहले से ज़्यादा बदतर होने वाली हैं। रुपये का इस क़दर गिरना कोई आकस्मिक घटना नहीं है। यह समूची भारतीय अर्थव्यवस्था की गिरती हालत का लक्षण है। इसका बोझ भाजपा सरकार और देश का पूँजीपति वर्ग पहले से ही भयंकर बेरोज़गारी और महँगाई से बरबाद होती मेहनतकश जनता पर डालेंगे। जनता को ऐसी हर कोशिश को नाकाम करने के लिए तैयार रहना होगा, महँगाई और बेरोज़गारी के विरुद्ध, नौकरी के अधिकार के लिए और शिक्षा-चिकित्सा-रिहायश के अधिकार के लिए जुझारू संघर्ष छेड़ना होगा, और धर्म और साम्प्रदायिकता के झगड़ों में देश को झोंक दिये जाने की हर साज़िश को बेअसर करना होगा।

तुर्की के महाकवि नाज़िम हिकमत के स्मृति दिवस (3 जून) के मौक़े पर

कचोटती स्वतंत्रता

तुम खर्च करते हो अपनी आँखों का शऊर,
अपने हाथों की जगमगाती मेहनत,
और गूँधते हो आटा दर्जनों रोटियों के लिए काफ़ी
मगर ख़ुद एक भी कौर नहीं चख पाते;
तुम स्वतंत्र हो दूसरों के वास्ते खटने के लिए–
अमीरों को और अमीर बनाने के लिए तुम स्वतंत्र हो।

जन्म लेते ही तुम्हारे चारों ओर
वे गाड़ देते हैं झूठ कातने वाली तकलियाँ
जो जीवनभर के लिए लपेट देती हैं तुम्हें झूठों के जाल में।
अपनी महान स्वतंत्रता के साथ
सिर पर हाथ धरे सोचते हो तुम
ज़मीर की आज़ादी के लिए तुम स्वतंत्र हो।

तुम्हारा सिर झुका हुआ मानो आधा कटा हो गर्दन से,
लुंज-पुंज लटकती हैं बाँहें,
यहाँ-वहाँ भटकते हो तुम अपनी महान स्वतंत्रता में:
बेरोज़गारी रहने की आज़ादी के साथ
तुम स्वतंत्र हो।

तुम प्यार करते हो देश को
सबसे करीबी, सबसे क़ीमती चीज़ के समान।
लेकिन एक दिन, वे उसे बेच देंगे,
उदाहरण के लिए अमेरिका को
साथ में तुम्हें भी, तुम्हारी महान आज़ादी समेत
सैनिक अड्डा बन जाने के लिए तुम स्वतंत्र हो।

तुम दावा कर सकते हो कि तुम नहीं हो
महज़ एक औज़ार, एक संख्या या एक कड़ी
बल्कि एक जीता-जागता इंसान–
वे फ़ौरन हथकड़ियाँ जड़ देंगे तुम्हारी कलाइयों पर।

गिरफ़्तार होने, जेल जाने या फिर फाँसी चढ़ जाने के लिए
तुम स्वतंत्र हो।

नहीं है तुम्हारे जीवन में लोहे, काठ
या टाट का भी परदा;
स्वतंत्रता का वरण करने की कोई ज़रूरत नहीं:
तुम तो हो ही स्वतंत्र।
मगर तारों की छाँह के नीचे
इस क़िस्म की स्वतंत्रता कचोटती है।

बारह साल, जनता बेहाल — टूटे सपनों का अम्बार! कौन है इसका ज़िम्मेदार?

(पेज 1 से आगे)

बेरोज़गारी दर फ़िलहाल 5.2 प्रतिशत है। एक अन्य अपेक्षाकृत अधिक सन्तुलित स्रोत है *सेण्टर फ़ॉर मॉनीटरिंग इण्डियन इकॉनमी (सीएमआईई)*। इसके आँकड़ों के अनुसार बेरोज़गारी दर इस समय क़रीब 7.45 प्रतिशत है। जैसा कि हमने ऊपर बताया, वैसे तो ये आँकड़े वास्तविक बेरोज़गारी को ढँकने के लिए ही बनाये जाते हैं, लेकिन अगर इन्हें ही माना जाये तो इसका अर्थ है कि काम करने योग्य आबादी में से 5.58 करोड़ लोग बेरोज़गार हैं। वास्तविक आँकड़े इससे कहीं ज़्यादा हैं। *सीएमआईई* के ही आँकड़ों के अनुसार, 20 से 24 साल के लोगों में 44.5 प्रतिशत लोग बेरोज़गार हैं, जिनमें से कइयों के पास स्नातक या उससे ऊपर की डिग्रियाँ हैं। ई-श्रम पोर्टल पर 30.5 करोड़ मज़दूरों ने अपना पंजीकरण करवाया है। ये ऐसे कामगार हैं जो या तो रोज़गार खोज रहे हैं या फिर सामाजिक सुरक्षा योजना का लाभ प्राप्त करना चाहते हैं, क्योंकि वे बेरोज़गार या अर्द्धबेरोज़गार है। ज़ाहिर है, इन आँकड़ों को रोज़गार के सही पैमानों के अनुसार संशोधित किया जाये तो वास्तविक बेरोज़गारी कहीं ज़्यादा निकलती है। **यही वजह है कि कई अर्थशास्त्रियों ने बेरोज़गारों की संख्या को 25 से 30 करोड़ से अधिक बताया है।** अर्द्धबेरोज़गारी-प्रच्छन्न बेरोज़गारी को इसमें जोड़ दें, तो यह तादाद कुल काम करने योग्य लोगों की आबादी के क़रीब आधे तक पहुँच जाती है। **यानी देश की लगभग आधी आबादी बेरोज़गारी, अर्द्धबेरोज़गारी या प्रच्छन्न बेरोज़गारी का शिकार है।**

ग़ौरतलब है कि 12 वर्ष पहले सरकार में आने के ठीक पहले नरेन्द्र मोदी-नीत भाजपा के मुख्य वायदों में से एक था बेरोज़गारी को कम करना और प्रति वर्ष 2 करोड़ रोज़गार मुहैया कराना। लेकिन वास्तव में नोटबन्दी और फिर कोविड के भयंकर बदइन्तज़ामी से लागू किये गये लॉक-डाउन के दौरान क़रीब 13 करोड़ लोगों ने रोज़गार खो दिया। अज़ीम प्रेम जी विश्वविद्यालय के एक अध्ययन के अनुसार नोटबन्दी के दौरान और बाद में क़रीब 50 लाख लोगों ने रोज़गार खो दिया। इसके बाद लॉक-डाउन के दौरान रिचा मुखर्जी, केवल कृष्णन और तनुज कंचन के अध्ययन के अनुसार, कोविड लॉकडाउन के दौरान क़रीब 12.2 करोड़ लोगों ने रोज़गार खो दिया। इसमें से 75 प्रतिशत उजरती मज़दूर और स्वरोज़गार-प्राप्त यानी अपना छोटा-मोटा काम करने वाले कैज़ुअल मज़दूर थे। मोदी सरकार के वायदे और उसके द्वारा लागू की गयी जनविरोधी नीतियों के कारण पैदा हुए परिणामों के बीच खाई जितना अन्तर है।

असहनीय है महँगाई की मार, कहाँ गयी मोदी सरकार?

महँगाई की स्थिति भी बेरोज़गारी की स्थिति से भी ज़्यादा नहीं तो कम-से-कम उतनी ही भयंकर है। हाल में कई राज्यों में विधानसभा चुनावों के ख़त्म होते ही लगभग दस दिनों के भीतर मोदी सरकार ने पेट्रोल, डीज़ल की क़ीमतों में चार बार बढ़ोत्तरी कर उसे औसतन 8 रुपये तक बढ़ा दिया। सीएनजी की क़ीमतों में भी 48 घण्टों के भीतर दो बार बढ़ोत्तरी कर उसे 3 रुपये तक बढ़ा दिया गया। दिल्ली में पेट्रोल रु. 102 के क़रीब पहुँच चुका है। दक्षिण व पूर्व के राज्यों में वह रु. 110-115 के पार हो रहा है। डीज़ल की कीमतें भी रु. 96 से रु. 99 के ऊपर जा रही हैं। सीएनजी की क़ीमतें रु. 80 से रु. 88 तक पहुँच चुकी हैं। रसोई गैस की क़ीमत में पहले रु. 60 की बढ़ोत्तरी की गयी और फिर दोबारा उसमें रु. 29 की बढ़ोत्तरी करके उसे रु. 942-960 तक पहुँचा दिया गया है। यह क़ीमत तो उनके लिए है जिनके पास एलपीजी का कनेक्शन है। एक भारी मज़दूर आबादी, विशेषकर प्रवासी मज़दूर आबादी के पास तो एलपीजी का कनेक्शन भी नहीं होता। इस ग़रीब मेहनतकश आबादी को एलपीजी इससे दोगुनी से तिगुनी क़ीमतों पर मिल पाता है। 19 किलो का कामर्शियल सिलेण्डर क़रीब रु. 2000 से बढ़कर पहले रु. 3051 तक हुआ और जून के पहले सप्ताह में ही इसमें दोबारा बढ़ोत्तरी कर इसे रु. 3114 तक पहुँचा दिया गया है। इसका अर्थ यह है कि बाहर रेहड़ी-ठेलों या खाने की दुकानों पर मिलने वाला खाना भी भारी महँगा होगा और वास्तव में हो भी रहा है। इसकी मार भी उन अकेले रहने वाले युवा मज़दूरों पर पड़ेगी जो घर पर खाना नहीं बना पाते और बाहर खाने को बाध्य होते हैं।

पेट्रोलियम उत्पादों में इस अभूतपूर्व क़ीमत-बढ़ोत्तरी के लिए मोदी सरकार पश्चिम एशिया में ईरान-अमेरिका युद्ध को दोषी ठहरा रही है। यह सच है कि पहले से बढ़ रही क़ीमतों को और ज़्यादा बढ़ाने का काम युद्ध ने किया है, लेकिन अभी भी अन्तरराष्ट्रीय बाज़ार में कच्चे तेल की क़ीमतें लगभग उतनी ही हैं, जितनी नरेन्द्र मोदी के प्रधानमन्त्री बनने के समय थीं। वास्तविकता यह है कि अन्तरराष्ट्रीय बाज़ार में प्रति बैरल कच्चे तेल के दाम के गिरने पर भी हमारे देश में तेल की क़ीमतों में 2014 से ही, यानी नरेन्द्र मोदी के प्रधानमन्त्री बनने के समय से ही, लगातार बढ़ोत्तरी ही की गयी है। *मई 2014 में प्रति बैरल कच्चे तेल की क़ीमत थी 103.4 डॉलर। जून 2026 की शुरुआत में यह पश्चिम एशिया के संकट के बावजूद 92.21 डॉलर प्रति बैरल है। मई 2014 में पेट्रोल की क़ीमत रु. 71 प्रति लीटर के क़रीब थी। जून 2026 में यह रु. 102 प्रति लीटर से ऊपर हो चुकी है। तेल कम्पनियों का मुनाफ़ा 2025-26 में पिछले साल के मुक़ाबले 130 प्रतिशत बढ़कर रु. 77,281 करोड़ से भी अधिक हो गया।* **यानी, पेट्रोलियम उत्पादों पर लगने वाले अप्रत्यक्ष करों व शुल्कों में पिछले 12 सालों में लगातार बढ़ोत्तरी कर जनता के ऊपर महँगाई के बोझ को बेतरह बढ़ा दिया गया है।**

पेट्रोलियम उत्पादों में लगातार बढ़ोत्तरी का अर्थ है हर चीज़ के ख़र्च में भारी बढ़ोत्तरी चाहे वह खान-पान का ख़र्च हो, घरेलू ईंधन का ख़र्च हो, परिवहन का ख़र्च हो, दवाओं व इलाज का ख़र्च हो, फ़र्टिलाइज़र की क़ीमतें बढ़ने के कारण खेती की लागत हो, हर वस्तु की मैन्युफ़ैक्चरिंग व सेवाओं की लागत हो। *यानी, पेट्रोलियम उत्पादों में ऐसी भयंकर बढ़ोत्तरी का अर्थ है जनता के लिए आम तौर पर कमरतोड़ महँगाई में और भी ज़्यादा बढ़ोत्तरी।* दूसरी बात यह है कि पश्चिम एशिया में युद्ध के कारण क़ीमतों में जो बढ़ोत्तरी हो रही है, उसके प्रभाव से काफ़ी हद तक बचा जा सकता था, अगर मोदी सरकार ने एक बेतुकी विदेश नीति न अपनायी होती और अमेरिका के दबाव की अवहेलना कर रूस से अपेक्षाकृत सस्ता तेल ख़रीदा होता और ईरान पर अमेरिका-इज़रायल के हमले का विरोध किया होता। अब जबकि स्थिति नियन्त्रण से बाहर होती प्रतीत हो रही है तो मोदी सरकार फिर से अमेरिका की आलोचना शुरू कर चुकी है, रूस से तेल ख़रीदने के अपने अधिकार की हिमायत कर रही है और विदेश नीति में कुछ बदलाव लाने का प्रयास कर रही है। विदेश मन्त्री एस. जयशंकर ने फ़िनलैण्ड में बयान दिया कि अमेरिका द्वारा प्रतिबन्धों और टैरिफ़ के लगाये जाने के पहले भी भारत रूस से तेल ख़रीद रहा था, अभी भी ख़रीद रहा है और आगे भी ख़रीदेगा क्योंकि यह लागत और प्रभाविता के आधार पर लिया जाने वाला फ़ैसला है। साथ ही, जयशंकर ने यह भी कहा कि अमेरिका के टैरिफ़ लगाने और हटाने के पीछे कोई उसूल का मसला नहीं है, बल्कि यह सुविधा और व्यवहारवाद पर आधारित नीति है। लेकिन इन बयानों के आने तक भारत में तेल की उपलब्धता और क़ीमतों की स्थिति पहले ही बिगड़ चुकी है। लेकिन ये कारक बाह्य कारक ही हैं और इनके प्रभाव में आने के पहले ही भारी अप्रत्यक्ष करों व शुल्कों के कारण भारत में पेट्रोल, डीज़ल और एलपीजी काफ़ी महँगे हो चुके थे। एक बाह्य कारक ने पहले से बिगड़ी हुई स्थिति को बस और ज़्यादा बिगाड़ने का काम किया है।

पेट्रोलियम उत्पादों पर तमाम कर व शुल्क लगाने के अतिरिक्त, अप्रत्यक्ष करों में आम तौर पर भारी बढ़ोत्तरी की गयी है जिसके कारण भी हर वस्तु व सेवा की क़ीमतों में लगातार बढ़ोत्तरी हुई है। एक आँकड़े से ही आपके सामने तस्वीर साफ़ हो जायेगी। 2013-14 के वित्तीय वर्ष में, यानी मोदी के प्रधानमन्त्री बनने से पहले अप्रत्यक्ष करों से आने वाला भारत सरकार का कुल राजस्व था रु. 4.95 लाख करोड़। एक दशक बाद 2023-24 में, यानी मोदी सरकार के दस वर्ष बीतते-बीतते यह रु. 14.95 लाख करोड़ पहुँच चुका था। यानी, लगभग तीन गुने की बढ़ोत्तरी। क्या भारत के आम मेहनतकश लोगों की औसत आमदनी में कोई बढ़ोत्तरी हुई है? नहीं! वह तो कम हुई है। वर्तमान वित्तीय वर्ष यानी 2025-26 में अप्रत्यक्ष करों से भारत सरकार को आने वाला राजस्व रु. 15.52 लाख करोड़ पहुँच चुका है। इसमें सबसे बड़ा योगदान था जीएसटी और पेट्रोलियम उत्पादों पर बढ़ते अप्रत्यक्ष करों व शुल्कों का।

अप्रत्यक्ष करों से आने वाले राजस्व तीन स्रोतों से आते हैं : केन्द्रीय जीएसटी, केन्द्रीय एक्साइज़ शुल्क और कस्टम्स शुल्क। इसमें केन्द्रीय जीएसटी रु. 9.58 लाख करोड़ है, केन्द्रीय एक्साइज़ शुल्क रु. 3.38 लाख करोड़ है और कस्टम्स शुल्क रु. 2.58 लाख करोड़ है। इसमें से केन्द्रीय एक्साइज़ शुल्क में पेट्रोलियम उत्पादों व तम्बाकू उत्पादों पर लगने वाला शुल्क होता है, लेकिन इसका 99 प्रतिशत हिस्सा पेट्रोलियम उत्पादों से ही आता है। वजह यह है कि आप 1 लीटर पेट्रोल की क़ीमत का क़रीब 35 से 40 फ़ीसदी हिस्सा करों के रूप में देते हैं। यानी, अगर अप्रत्यक्ष करों का बोझ हटा दिया जाये तो इस समय भी, जब पश्चिम एशिया के युद्ध के कारण वैश्विक पेट्रो क़ीमतें बढ़ रही हैं, 1 लीटर पेट्रोल की क़ीमत होगी क़रीब रु. 75!

कुल मिलाकर, महँगाई का हमारे देश में इस समय अन्य कारणों के अलावा अगर कोई सबसे बड़ा कारण है, तो वह है मोदी सरकार द्वारा पिछले 12 वर्षों में जनता के ऊपर लादा गया अप्रत्यक्ष करों का भारी बोझ। अगर इस बोझ को तत्काल 50 प्रतिशत कम कर दिया जाये, तो महँगाई में भारी कमी आ सकती है। लेकिन मोदी सरकार ऐसा नहीं करेगी क्योंकि इससे सरकारी राजस्व में कमी आयेगी और नेताओं, मन्त्रियों, नौकरशाहों, पुलिस व सशस्त्र बलों के अफ़सरों के ऐशो-आराम, ख़िदमत, कुलीन जीवन, सुरक्षा और ऐय्याशी पर होने वाला ख़र्च कम करना पड़ेगा। और सरकारी राजस्व में जो कमी होगी उसे पूरा करने के लिए मोदी सरकार कारपोरेट पूँजीपति वर्ग और धनिक वर्गों पर प्रत्यक्ष प्रगतिशील कर लगा नहीं सकती, क्योंकि भाजपा को हर चुनाव से पहले लाखों करोड़ रुपयों का चन्दा उन्हीं के पास से आता है। 2014 में कारपोरेट कर यानी पूँजीपति वर्ग पर लगने वाला कर था 34 से 35 प्रतिशत। 2017-18 में ही छोटे और मँझोले पूँजीपतियों पर, यानी रु. 50 करोड़ तक के टर्नओवर वाली कम्पनियों पर कर की दर को घटाकर 25 प्रतिशत कर दिया गया। सितम्बर 2019 में मोदी सरकार ने कराधान क़ानून (संशोधन) ऐक्ट पारित किया और सभी कम्पनियों के लिए 22 प्रतिशत के कारपोरेट कर की दर को लागू कर दिया। नयी मैन्युफ़ैक्चरिंग इकाइयों के लिए इसे घटाकर 15 प्रतिशत कर दिया गया। यानी, अमीरों, सेठों, बड़े व्यापारियों के वर्ग पर करों के बोझ को घटाया जा रहा है, जबकि आम मेहनतकश जनता के ऊपर करों के बोझ को बढ़ाया जा रहा है। इन दोनों क़दमों से, यानी अप्रत्यक्ष कर घटाने और प्रत्यक्ष करों को बढ़ाने से, पूँजीवादी शासक वर्ग की आन्तरिक एकता ही ख़तरे में पड़ जायेगी। इसलिए मन्दी के मौजूदा दौर में पूँजी के हितों की शिद्दत से सेवा में लगी मोदी सरकार ऐसे क़दम कतई नहीं उठाने वाली है।

नर्क बनती मज़दूरों की जीवन-स्थितियाँ और कार्य-स्थितियाँ

मज़दूरों और मेहनतकशों के जीवन और कार्य स्थितियाँ कैसी हैं? यानी, जिनके पास किसी प्रकार का काम है, उनकी स्थिति क्या है? भारत में नौकरीशुदा लोगों की कुल संख्या सरकारी आँकड़ों के अनुसार 56.2 करोड़ हैं। इनमें से 90 प्रतिशत से भी ज़्यादा लोग अनौपचारिक मज़दूर हैं, यानी, ठेका, दिहाड़ी, कैज़ुअल मज़दूर, गिग वर्कर, रेहड़ी-खोमचे वाले, घरेलू कामगार, या तथाकथित स्वरोज़गार-प्राप्त मज़दूर, जिनके पास कोई आठ घण्टे का कार्यदिवस, साप्ताहिक छुट्टी, डबल रेट से ओवरटाइम भुगतान, पक्का रोज़गार, पीएफ़, ईएसआई, आदि के अधिकार नहीं हैं। सरकारी आँकड़ों के ही अनुसार, पंजीकृत अनौपचारिक मज़दूरों में से 92 प्रतिशत को रु. 10 हज़ार या उससे कम मज़दूरी/आय मिलती है। यानी, 40 करोड़ से ज़्यादा अनौपचारिक मज़दूर 10-12 हज़ार रुपये प्रति माह पर जीवन व्यतीत कर रहे हैं! हम जानते हैं कि यह जीवन कैसा होता है। इसका अर्थ होता है लगातार भुखमरी और कुपोषण की रेखा पर जीना। इसका अर्थ होता है कि हम अपने बच्चों और परिवार को गुणवत्ता वाला दवा-इलाज, शिक्षा और रिहायश तक मुहैया नहीं करा सकते। ओवरटाइम लगाने के बाद भी हालत रेत में से तेल निकालने के समान होती है।

(अगले पेज पर जारी)

बारह साल, जनता बेहाल

टूटे सपनों का अम्बार! कौन है इसका ज़िम्मेदार?

(पिछले पेज से आगे)

यही कारण है कि मौजूदा कमरतोड़ महँगाई के दौर में देश के अलग-अलग क्षेत्रों में मज़दूरी बढ़ाने और डबल रेट से ओवरटाइम के भुगतान की माँगों को लेकर मज़दूर सड़कों पर उतर रहे हैं और हर राज्य में ही सरकारें उनका दमन कर रही हैं। **क्या जीवनयापन-योग्य मज़दूरी की माँग करना कोई अपराध है?** ईमानदारी से आकलन किया जाये तो एक मज़दूर-मेहनतकश के परिवार को जीने की न्यूनतम बुनियादी आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए आज के समय में कम-से-कम रु. 30,000 प्रति माह चाहिए। 10-15 हज़ार रुपये में मज़दूर परिवार भला कैसे एक इंसान जैसा जीवन जी सकता है? 12-12 घण्टे कमरतोड़ ग़ुलामी के बाद भी देश का मज़दूर अपने बच्चों को पोषणयुक्त भोजन, शिक्षा, दवा-इलाज तक मुहैया नहीं करा सकता।

उपरोक्त स्थिति के कारण, मज़दूरों के बीच आत्महत्या करने की प्रवृत्ति भी हालिया दिनों में बढ़ी है। *नेशनल क्राइम रिकार्ड ब्यूरो* के अनुसार भारत में होने वाली कुल आत्महत्याओं में से 31 प्रतिशत दिहाड़ी मज़दूरों की आत्महत्याएँ हैं। ऐसे में, मज़दूर-मेहनतकश जब अपनी माँगों को उठाते हैं, तो उन्हें "देशद्रोही", "राष्ट्र-विरोधी", आदि घोषित कर दिया जाता है। **क्या इस देश में सुई से लेकर जहाज़ तक बनाने वाले बहुसंख्यक मज़दूर-मेहनतकश नहीं शामिल हैं? क्या 'देश' का मतलब केवल परजीवी धन्नासेठों, कारखाना-मालिकों, ठेकेदारों और बिचौलियों की जमात है?**

मज़दूरों की जीवन-स्थितियों में उनकी रिहायश, पीने के पानी, साफ़-सफ़ाई की व्यवस्था भी शामिल है। आप किसी भी शहर की मज़दूर बस्ती में चले जायें आपको एक जैसे ही हालात मिलेंगे। न तो पीने के लिए साफ़ पानी है, न पानी का कनेक्शन है, पानी के टैंकरों के सामने लोग सुबह-सुबह लाइन लगाये खड़े रहते हैं, कई जगह शौचालय और नालियों की उपयुक्त व्यवस्था तक नहीं है। मकान ऐसे हैं, जो एक इंसान के परिवार के रहने के लिए कतई उपयुक्त नहीं कहे जा सकते हैं। 2024 में चदचन, होसिने, तमिल सेल्वन व अन्य अध्येताओं द्वारा किये गये अध्ययन (2024) के अनुसार अधिकांश मज़दूरों के घरों में हवा आने-जाने की कोई जगह नहीं है, साफ़ पीने का पानी उपलब्ध नहीं है, अपशिष्ट प्रबन्धन की कोई व्यवस्था नहीं है, सैनीटेशन की कोई व्यवस्था नहीं है।

अगर सुरक्षा इन्तज़ामात की बात करें, तो उसकी स्थिति भी भारत के कारखानों में दयनीय है। तमाम कारखाना मालिक व कम्पनियाँ अपनी लागत को घटाने और मुनाफ़े की दर को बढ़ाने के लिए मज़दूरों को सुरक्षा के उपकरण व अन्य इन्तज़ाम मुहैया नहीं कराते हैं। नतीजतन, *डायरेक्टोरेट जनरल फैक्टरी एडवाइस सर्विस एण्ड लेबर इंस्टीट्यूट्स* के अनुसार पिछले एक दशक में ज्ञात घटनाओं के अनुसार हर वर्ष औसतन 1000 से 1300 मज़दूर औद्योगिक दुर्घटनाओं में मारे जाते हैं। घायलों की संख्या इससे कहीं ज़्यादा है, जिसमें मज़दूर ऐसी अपंगता के शिकार हो जाते हैं कि उन्हें काम ही नहीं मिल सकता। केवल पंजीकृत कारखानों में ही 2017 से 2020 के दौरान हर वर्ष औसतन 1109 मज़दूर औद्योगिक दुर्घनाओं में मर रहे थे और क़रीब 4000 घायल हो रहे थे।

ऊपर से मज़दूरों की वास्तविक आमदनी में भी लगातार गिरावट जारी रही है। पीरियॉडिक लेबर फ़ोर्स सर्वे के अनुसार 2024 में पक्की नौकरी वाले नियमित मज़दूरों की वास्तविक मज़दूरी (यानी, अपनी मज़दूरी से वे जितनी वस्तुएँ व सेवाएँ वास्तव में ख़रीद सकते हैं) 2019 के स्तर से 1.7 प्रतिशत कम थी। अनौपचारिक व असंगठित क्षेत्र के ठेका, दिहाड़ी, कैज़ुअल मज़दूरों की वास्तविक मज़दूरी में आर्थिक सर्वेक्षण के मुताबिक -1 प्रतिशत की दर से गिरावट जारी रही है। ग्रामीण मज़दूरों की वास्तविक मज़दूरी 2014 से 0 प्रतिशत से कुछ अधिक दर से बढ़ी है, जो कि अन्य कारकों से प्रति-सन्तुलित की जाये, तो ठहरावग्रस्त या गिरती हुई वास्तविक मज़दूरी मानी जायेगी। वहीं स्वरोज़गार-प्राप्त मज़दूरों की वास्तविक आमदनी में 2019 के मुक़ाबले 5 प्रतिशत की गिरावट हुई है। गिग वर्करों (प्लेटफ़ार्म व डिलिवरी मज़दूर) की वास्तविक आय 2019 से 2022 के दौरान ही क़रीब 24 प्रतिशत गिर गयी थी।

इन भयंकर स्थितियों को विस्फोट की ओर जाने से रोकने के लिए मोदी सरकार की ओर से फ्री राशन की भीख (5 किलो अनाज) देश की 57 प्रतिशत जनता को दिया जाता है। **इससे क्या होगा?** जब देश की जनता को सम्मानजनक और जीवन जीने योग्य वेतन वाला काम चाहिए तो उसे यह भीख दी जाती है। भोजन सुरक्षा के अधिकार के तहत देश की मेहनतकश आबादी को राशनिंग की सुविधा तो मिलनी ही चाहिए। लेकिन वह नौकरियाँ और सम्मानजनक वेतन का विकल्प नहीं हो सकता है। मोदी सरकार का यह क़दम इसलिए भी पूँजीपतियों को फ़ायदा पहुँचाता है क्योंकि इसके ज़रिये पूँजीपतियों के सिर से सारी ज़िम्मेदारी हट जाती है, यह औसत मज़दूरी पर कम होने का दबाव पैदा करता है और कुल मिलाकर इस राशनिंग का ख़र्च देश की जनता ही उठाती है। इस फ्री राशन योजना पर सरकार पाँच वर्ष में क़रीब 11.8 लाख करोड़ रुपये ख़र्च करती है। यह पैसा कहाँ से आता है? सरकारी ख़ज़ाने से जो जनता के करों से ही भरा जाता है। *यानी जनता पर ही पहले अप्रत्यक्ष करों का बोझ बढ़ाओ, उसके बाद इससे मिलने वाले राजस्व से एक छोटी-सी राशि फ्री राशन में लगा दो और साथ में वाहवाही लूट लो! इसे एक हाथ से चार आना देना और दूसरे हाथ से आठ आना ले लेना कहते हैं।* इस योजना से देश की करोड़ों की मेहनतकश आबादी को कुछ ख़ास हासिल भी नहीं होता, सिवाय भुखमरी-कुपोषण रेखा पर जैसे-तैसे जीवन व्यतीत करने के। और यह योजना भी मोदी सरकार का अहसान नहीं है, बल्कि देश की जनता के पैसे से ही चलने वाली योजना है।

कुल मिलाकर, पिछले 10-12 वर्षों में मज़दूरों की जीवन-स्थितियाँ और कार्य-स्थितियाँ बद से बदतर होती गयी हैं। मज़दूरों के लिए जीवन इतना नारकीय पहले कभी नहीं था। हम मज़दूर-मेहनतकश इस बात को अच्छी तरह से जानते हैं।

छात्रों-युवाओं के भविष्य के साथ शर्मनाक खिलवाड़

पिछले 12 वर्षों में देश के छात्रों-युवाओं के जीवन और भविष्य के साथ जो खिलवाड़ मोदी सरकार ने किया है, वह भी अभूतपूर्व और आश्चर्यजनक है। 2015 से 2026 के बीच में आधिकारिक तौर पर दर्ज मामलों के अनुसार कुल 148 परीक्षा घोटाले हुए हैं और 87 परीक्षाएँ रद्द हुई हैं, जिससे क़रीब 10 करोड़ छात्र बुरी तरह से प्रभावित हुए हैं। पहले भी परीक्षा घोटाले और पेपर लीक होते थे, लेकिन इस स्तर पर ये घपले भारत के इतिहास में पहली बार हुए हैं। ग़ौरतलब है कि अब तक इन घपलों पर दर्ज किये गये मुक़दमों में केवल एक व्यक्ति को दण्ड मिला है! सीबीआई और ईडी को हर प्रकार के राजनीतिक विपक्ष के बारे में सारे सुराग़ और सूचनाएँ दैवीय रूप से प्राप्त हो जाते हैं, लेकिन इन घपलों पर ये संस्थाएँ अभी तक कुछ भी नहीं कर पायी हैं। सीबीआई ने इनमें से 17 और ईडी ने इनमें से 11 मामलों की "जाँच" की जिसमें एक भी व्यक्ति को सज़ा नहीं मिली! यानी, जब मोदी सरकार के दौर में हुए परीक्षा घपलों की जाँच की बारी आती है, तो ये जाँच एजेंसियाँ फिसड्डी साबित होती हैं। जहाँ इन एजेंसियों को वाक़ई काम करना चाहिए, वहाँ तो इनके नतीजे ज़ीरो हैं! इनका इस्तेमाल मोदी सरकार द्वारा बस हर प्रकार के राजनीतिक विरोध और विपक्ष को कुचलने के एक राजनीतिक हथियार के रूप में किया जा रहा है। 2024 के नीट घोटाले के आरोपी को सज़ा मिलना तो दूर की बात, ज़मानत मिल गयी क्योंकि सीबीआई ने चार्जशीट ही नहीं दायर की! उच्चतर शिक्षा के लिए होने वाली राष्ट्रीय परीक्षा सी.यू.ई.टी. में भी तमाम अनियमितताएँ लगातार होती ही रहती हैं। यही हाल देश में होने वाली अन्य प्रतिस्पर्द्धी परीक्षाओं का भी है, चाहे वे राज्य सेवा आयोगों की हों या केन्द्रीय परीक्षाएँ हों। **ऐसी हालत तो आज़ाद हिन्दुस्तान की तारीख़ में कभी नहीं पैदा हुई थी।**

मोदी सरकार द्वारा बनायी गयी एनटीए कैसे काम करती है, कौन इसे संचालित करता है, इसकी वार्षिक रपटें कहाँ हैं, पारदर्शिता की व्यवस्था, जवाबदेही की कोई व्यवस्था कहाँ है, यह कोई नहीं जानता! ऐसा तब है जबकि इस एजेंसी के हाथ में करोड़ों छात्रों-युवाओं का भविष्य है। हाल में हुई नीट परीक्षा में 22 लाख छात्रों ने दिनों-रात एक करके कड़ी मेहनत की और परीक्षा दी। कई आम मध्यवर्गीय परिवारों ने तो अपने बच्चों की तैयारी के लिए ही भारी कर्ज़ लिये, ज़मीनें गिरवी रखीं, गहने बेचे और अपना सबकुछ इसके लिए दाँव पर लगा दिया। जब छात्रों ने महीनों मेहनत के बाद यह परीक्षा दी तो उसके बाद परीक्षा ही पेपर लीक के कारण रद्द हो गयी।

इसके बाद से कई छात्र आत्महत्या कर चुके हैं और लाखों अवसाद का शिकार हो गये हैं। जब यह काण्ड हो रहा था, तो शिक्षा मन्त्री धर्मेन्द्र प्रधान भाजपा की ओर से राज्य चुनावों के प्रबन्धन में व्यस्त थे! ये ख़बरें भी सामने आ चुकी हैं कि जिन लोगों को नीट पेपर लीक घोटाले में मुख्य आरोपियों के रूप में गिरफ़्तार किया जा रहा है, वे तो बस प्यादे हैं, जबकि असली कर्ता-धर्ता लोग सत्ताधारी पार्टी यानी भाजपा से रिश्ता रखने वाले ऊँची रसूख़ वाले लोग हैं। **इस पूरे मसले की क़ायदे से उच्च स्तरीय न्यायिक जाँच होनी चाहिए, तभी सच्चाई सामने आ सकती है।** फ़िलहाल तो उत्तर प्रदेश से लेखपाल पद के लिए होने वाली परीक्षाओं में पेपर लीक को लेकर छात्रों व परीक्षार्थियों का आन्दोलन भी शुरू हो चुका है। योगी सरकार हमेशा की तरह इस आन्दोलन पर दमन का पाटा चला रही है, लेकिन छात्रों-युवाओं ने भी हिम्मत का परिचय दिया है और योगी सरकार के नग्न अन्याय के विरुद्ध अपना आन्दोलन जारी रखा है। बदले की भावना से मूर्खता की हद तक जाकर दमन करने वाली योगी सरकार ने उन तीन कोचिंग संस्थानों को भी विविध कारण बताकर सील कर दिया जिन्होंने आन्दोलनरत परीक्षार्थियों का समर्थन किया था!

इतने में हरियाणा के मुख्यमन्त्री नायब सिंह सैनी ने सोचा कि दमन के मामले में वह भला पीछे कैसे रह सकते हैं! तो रोहतक में एक टीचर को निलम्बित कर दिया गया जो कॉकरोच जनता पार्टी के दिल्ली के प्रदर्शन में धर्मेन्द्र प्रधान के इस्तीफ़े की माँग का समर्थन करने गया था! केन्द्र सरकार समेत भाजपा की सभी सरकारें इस समय बुरी तरह से भयाक्रान्त हैं। देश में आर्थिक और सामाजिक स्थितियाँ तेज़ी से उनके हाथों से निकलती जा रही हैं और जनता का धीरज धीरे-धीरे जवाब दे रहा है। साम्प्रदायिक दंगे और तनाव फैलाने की भी एक सीमा होती है, जिस प्रकार हर चीज़ की एक सीमा होती है। जनता को जब रोटी-रोज़गार, पढ़ाई-परीक्षा और दवा-इलाज तक नहीं मिलेंगे, तो वह अपना जीवन भला कैसे जी सकती है? लड़ने और जूझने के अलावा उसके पास रास्ता भी क्या बचता है? देश में ऐसे हालात निर्मित हो रहे हैं और डरे हुए हुक्मरानों की तरह भाजपा सरकारें भी इस मुग़ालते में हैं कि डण्डा चलाकर जनता को दबा दिया जायेगा। ऐसी ग़लतफ़हमियों की बड़ी क़ीमत पिछले दो दशकों में ही दुनिया के कई देशों के शासक वर्ग को चुकानी पड़ी है। बहरहाल, शिक्षा के क्षेत्र में पिछले एक दशक से जारी दीर्घकालिक घोटाले पर वापस लौटते हैं।

अभी विभिन्न प्रतिस्पर्द्धी परीक्षाओं में जारी घोटाले का ख़ुलासा हो ही रहा था कि स्कूली शिक्षा का घोटाला यानी **सीबीएसई घोटाला** सामने आ गया। इसमें मोदी सरकार के तहत सीबीएसई ने एक कम्पनी कोएम्प्ट एडुटेक को परीक्षा पुस्तिकाओं की जाँच की व्यवस्था का ठेका दिया था। इस कम्पनी का नाम पहले ग्लोबरेना टेक्नॉलोजीज़ था और इसने 2019 और 2023 में तेलंगाना में भी परीक्षा व्यवस्था निर्मित करने का ठेका लिया था। नतीजा यह था कि भयंकर अनियमितताओं के कारण 23 छात्रों ने आत्महत्या कर ली थी। लेकिन फिर भी मोदी सरकार ने इसी कम्पनी को सीबीएसई की परीक्षा पुस्तिकाओं की जाँच की व्यवस्था का कार्य दिया! इस कम्पनी की 'ऑन स्क्रीन मार्किंग' व्यवस्था का नतीजा यह था कि परीक्षा पुस्तिकाओं की जाँच में भयंकर गड़बड़ियाँ हुईं; उत्तीर्णता प्रतिशत गिर कर 85.2 प्रतिशत पहुँच गया और नतीजतन 17 लाख परिवार इससे प्रभावित हुए। छात्रों की उत्तर पुस्तिकाओं के अपठनीय स्कैन, उनकी ग़लत मार्किंग और फिर सीबीएसई पोर्टल का ही धराशायी हो जाना, इसी घपले के खुलने की प्रक्रिया में हुआ! यह सारा कुकर्म किसलिए हुआ? **इसलिए क्योंकि मोदी सरकार के तहत देश के नवयुवकों के भविष्य को अभूतपूर्व और नग्न रूप में पूँजीवादी मुनाफ़े की चक्की में पिसने के लिए छोड़ दिया गया है। ग़ौरतलब है कि कोएम्प्ट एडुटेक का मालिक वीएसएन राजू मनिपाल ग्लोबल एडुकेशन सर्विसेज़ से जुड़ा है। मनिपाल ग्लोबस एडुकेशन सर्विसेज़ का मालिक टी.वी. मोहनदास पाई प्रधानमन्त्री मोदी का कट्टर समर्थक है। क्रोनोलॉजी तो आप समझ ही रहे होंगे! वीएसएन राजू को सेवा का मेवा मिला है और बेगुनाह छात्रों को ईमानदारी और मेहनत का दण्ड मिला है।**

अब जबकि इस शिक्षा व परीक्षा घोटालों पर मोदी सरकार और विभिन्न राज्य भाजपा सरकारों की ऐसी-तैसी हो रही है और घर-घर में छीछालेदर हो रही है, तो दिखाने के लिए सीबीएसई के कुछ अधिकारियों का दूसरे विभागों में तबादला कर दिया गया है। शिक्षा मन्त्री ने मौखिक तौर पर ज़िम्मेदारी भी ली है और छात्रों की नसीहत दी है कि इधर-उधर ध्यान न दें, फिर से परीक्षा की तैयारी करें! कहना होगा कि आज फ़ासीवादी सत्ता में बैठे नेताओं-मन्त्रियों और उच्च नौकरशाहों की जनता के

(अगले पेज पर जारी)

बारह साल, जनता बेहाल टूटे सपनों का अम्बार! कौन है इसका ज़िम्मेदार?

(पिछले पेज से आगे)

प्रति संवेदनहीनता सारी हदें पार कर चुकी हैं। *बहरहाल, इन सफ़ाइयों और तरहम-बरहम से क्या होगा? पिछले 12 वर्षों में हुए क़रीब डेढ़ सौ परीक्षा घपलों में बरबाद हुई नौजवान ज़िन्दगियों का हिसाब कौन करेगा?*

छोटे ग़रीब किसानों की बदहाल होती ज़िन्दगी

एक ओर देश के धनी फ़ार्मर व कुलक अधिक से अधिक लाभकारी मूल्य की माँग करते रहे हैं और आज भी कर रहे हैं, और सरकारी एमएसपी व्यवस्था के लाभार्थी हैं, जो कि अनाजों की क़ीमतों पर निरन्तर बढ़ने का दबाव पैदा करती है, वहीं दूसरी ओर छोटे व परिधिगत किसानों (जिनके पास 2 हेक्टेयर से कम ज़मीन है) के हालात दिन-पर-दिन बद से बदतर होते जा रहे हैं। धनी फ़ार्मरों व पूँजीवादी ज़मीन्दारों के समान न तो इनके पास संस्थागत ऋण के सरकारी तन्त्र तक पहुँच है और, कुछ अपवादों को छोड़ दें तो, न ही इनके पास सरकारी मण्डियों तक सीधी पहुँच है। नतीजतन, ये धनी पूँजीवादी फार्मरों व ज़मीन्दारों से भारी ब्याज दरों पर कर्ज़ लेने को बाध्य होते हैं, जिसको न चुका पाने के कारण ही इस वर्ग में ज़मीन गवाँकर मज़दूर बनने की प्रवृत्ति और साथ ही आत्महत्या की घटनाएँ आम हैं। हर वर्ष ही हज़ारों और कई बार लाखों किसान कर्ज़ के कारण ज़मीनें गवाँकर ग्रामीण सर्वहारा की क़तार में शामिल हो रहे हैं। वहीं दूसरी ओर, खेती में लगे लोगों में होने वाली आत्महत्याओं में से 56 प्रतिशत खेतिहर मज़दूरों की है, वहीं दूसरी ओर 43 प्रतिशत किसान हैं। किसानों की आत्महत्याएँ लगभग पूर्णत: छोटे और परिधिगत किसानों के बीच हुई हैं, धनी कुलकों-पूँजीवादी फ़ार्मरों व ज़मीन्दारों के बीच नहीं! धनी पूँजीवादी फ़ार्मरों को जिस संकट का सामना करना पड़ रहा है, वह तो वही संकट है जिसका सामना मन्दी के दौर में सभी छोटे और मँझोले पूँजीपतियों को करना पड़ रहा है।

छोटे व परिधिगत किसानों की सबसे बड़ी समस्या क्या है? यह समस्या है खेती की लगातार बढ़ती लागत की। एक छोटे या परिधिगत किसान को भी प्रति एकड़ 25 से 30 हज़ार रुपये खेती के लिए लगाने पड़ते हैं, जो अक्सर उसके पूरे जीवन की बचत से भी ज़्यादा होता है। ऐसे में, वह धनी किसानों व ज़मीन्दारों से ऋण लेने के लिए बाध्य होता है, जिसकी वार्षिक दर 24 से 60 प्रतिशत के बीच हो सकती है। मॉडीफ़ाइड बीज, विशिष्टीकृत फ़र्टिलाइज़र और पेस्टिसाइडों की क़ीमतों में भारी बढ़ोत्तरी हो रही है, सरकार सब्सिडी में वास्तविक कटौती कर रही है और साथ ही संस्थागत ऋण तक ग़रीब किसानों की पहुँच नहीं है। **नतीजतन, छोटे पैमाने की खेती इन ग़रीब किसानों को देती कुछ भी नहीं है, उल्टे जो भी उनके पास बचा होता है, वह भी निचोड़ लेती है।** यही कारण है कि किसानों की क़रीब आधी आबादी ने मौक़ा मिलते ही, यानी कोई पक्की नौकरी या आय का पक्का स्रोत मिलते ही खेती छोड़ने की इच्छा जतायी है। मोदी सरकार के 12 वर्षों में किसानों के बीच सबसे बुरी हालत इन छोटे व परिधिगत किसानों की हुई है, जो कि कुल भूमि का मालिकाना रखने वाले किसानों में से 86 प्रतिशत हैं! ये वह आबादी है जो पहले ही अर्द्धमज़दूर बन चुकी है क्योंकि इनकी घरेलू आय का 70 फ़ीसदी से भी ज़्यादा हिस्सा मज़दूरी से आता है।

पिछले कुछ दिनों में फ़र्टिलाइज़र की क़ीमतों में पश्चिम एशिया में जारी युद्ध के कारण भी भारी बढ़ोत्तरी हुई है। इसका बोझ भी ग़रीब किसानों पर ही सबसे ज़्यादा पड़ा है। ग़रीब किसानों के लिए क़ायदे से सरकार को सस्ते संस्थागत ऋण की व्यापक तौर पर व्यवस्था करनी चाहिए, कृषि की लागत को कम करने के लिए इनपुट्स को अधिक से अधिक सब्सिडी पर देना चाहिए और इस सब्सिडी के लिए धनी वर्गों पर विशेष कर या शुल्क लगाना चाहिए। यह बात सच है कि ये सब्सिडियाँ मिल भी जाएँ तो एक मुनाफ़ा-केन्द्रित पूँजीवादी व्यवस्था में छोटे पैमाने की खेती का कोई भविष्य नहीं होता। लेकिन ग़रीब किसानों की उपरोक्त माँगें उनकी वास्तविक माँगें हैं और तात्कालिक तौर पर राहत के लिए आवश्यक माँगें हैं। पूँजीवादी व्यवस्था की इस सच्चाई को ग़रीब किसान आबादी अपने अनुभवों से स्वयं समझती जाती है कि बड़ी मछली छोटी मछली को अन्तत: निगल ही जाती है। लेकिन आज के समय में धनी वर्गों पर विशेष कर लगाकर उनके लिए खेती के लागत-दाम को कम करना एकदम जायेज़ माँग है।

इसके अलावा ग़रीब किसानों और खेतिहर व ग्रामीण मज़दूरों की एक अन्य बेहद अहम माँग है मनरेगा योजना को संशोधित रूप में बहाल करना। संशोधित रूप में क्यों? क्योंकि 100 दिन के रोज़गार को 'रोज़-गार' नहीं कहा जा सकता! इसके तहत साल भर का काम मिलना चाहिए, या फिर जीवनयापन-योग्य बेरोज़गारी भत्ता मिलना चाहिए। इसके अलावा, मनरेगा के काम के बदले में तय न्यूनतम मज़दूरी मिलनी चाहिए, न कि 'भुखमरी रेखा मज़दूरी'। इन संशोधनों के साथ मोदी सरकार को मनरेगा क़ानून को बहाल करना चाहिए, ऐसी माँग गाँव के ग़रीबों की एक प्रमुख माँग बनती है।

मनरेगा को हटाने का मोदी सरकार का प्रमुख कारण यह था कि मनरेगा के कारण ग्रामीण, विशेषकर खेतिहर, मज़दूरी पर बढ़ने का दबाव पैदा होता है। यह गाँव के पूँजीपति वर्ग, विशेषकर खेतिहर पूँजीपति वर्ग यानी धनी फ़ार्मरों-कुलकों व ज़मीन्दारों के हितों के विपरीत जाता है। इसलिए ऊपर से जो भी बयान कुछ फ़ार्मर संघों ने दिये हों, लेकिन मनरेगा का हटाया जाना उनके लिए बेहतर है। वरना जितना बड़ा आन्दोलन धनी फ़ार्मरों और पूँजीवादी ज़मीन्दारों ने मोदी सरकार द्वारा लाभकारी मूल्य की व्यवस्था पर चोट करने वाले पहले दो खेती क़ानूनों के ज़रिये किया था, उतना ही बड़ा आन्दोलन उन्हें ग़रीब किसानों, काश्तकारों व खेतिहर मज़दूरों के मनरेगा को हटाये जाने के मुद्दे पर भी करना चाहिए था! लेकिन इस पर एक मरगिल्ला सा बयान देकर ज़्यादातर पूँजीवादी फ़ार्मरों के संघों ने खानापूर्ति कर ली! **इससे भी यह साफ़ हो जाना चाहिए कि किसान कोई एक वर्ग नहीं हैं। किसानों के समुदाय में ही धनी पूँजीवादी फ़ार्मरों और ज़मीन्दारों का वर्ग है जिनके अपने हित हैं, जबकि दूसरी ओर मेहनतकश छोटे व परिधिगत किसानों का वर्ग है जो किसी के उजरती श्रम का शोषण नहीं करते, जिनकी अपनी अलग माँगें हैं। दोनों के हित एक समान हो ही नहीं सकते हैं।**

निष्कर्ष के तौर पर...

हमने 12 सालों के दौरान मोदी सरकार के प्रदर्शन के केवल कुछ आर्थिक मसलों पर ध्यान केन्द्रित किया है। हम इस दौरान हुए घोटालों-घपलों, राजकीय दमन, काले क़ानूनों को पारित किये जाने पर अभी कोई चर्चा नहीं कर रहे हैं। इसके अलावा, हम इस पर भी बात नहीं कर रहे हैं कि अपनी उपरोक्त नाकामियों के कारण ही मोदी सरकार, भाजपा और संघ परिवार लगातार साम्प्रदायिक तनाव की सिगड़ी को गरमाते रहते हैं, ताकि देश की मेहनतकश जनता और आम मध्यवर्गीय जनता मसलों को ग़ैर-मसला समझ ले और ग़ैर-मसलों को मसला। साथ ही, हम इस बेहद महत्वपूर्ण परिघटना पर भी अभी बात नहीं कर रहे हैं कि किस प्रकार पिछले 12 वर्षों में भारतीय राज्यसत्ता के समूचे उपकरण और तन्त्र पर संघ परिवार और भाजपा ने आन्तरिक तौर पर कब्ज़ा करने का काम किया है, चाहे वह पुलिस हो, सशस्त्र बल हों, नौकरशाही हो, ईडी, सीबीआई व केन्द्रीय चुनाव आयोग जैसी संस्थाएँ हों, या फिर न्यायपालिका ही क्यों न हो। और हम इस पर भी बात अभी नहीं कर रहे हैं कि किस प्रकार भारत में किसी भी प्रकार की निष्पक्षता व स्वतन्त्रता का तत्व रखने वाले किसी भी अख़बार, समाचार चैनल व अन्य मीडिया संस्थानों का मोदी सरकार ने व्यवस्थित तौर पर ख़ात्मा कर डाला है। यह बेवजह नहीं है कि टीवी न्यूज़ चैनल देखने वालों की संख्या तेज़ी से गिरती जा रही है और अख़बार के पाठकों की संख्या भी आबादी में निरपेक्ष बढ़ोत्तरी के बावजूद लगभग गिर रही है। जनता का ही बड़ा हिस्सा इन पर भरोसा नहीं करता और इन्हें 'गोदी मीडिया' की संज्ञा देता है। जगह-जगह जनता के धरनों, विरोध-प्रदर्शनों से गोदी मीडिया के लोगों को खदेड़ने का काम स्वयं जनता कर रही है। बात इस पर भी ज़रूर ही की जानी चाहिए कि किस प्रकार पिछले 12 वर्षों में देश में एक ऐसा माहौल बना दिया गया है कि यहाँ मुसलमान होना एक गुनाह बनता जा रहा है, मुसलमानों को किराये पर मकान नहीं मिलते, नौकरी मिलने में भी भारी दिक्कतों को सामना करना पड़ता है, और अफ़वाहों के आधार पर मॉब लिंचिंग, मार-पीट, हमलों आदि का ख़तरा तो निरन्तर ही मँडराता रहता है। ऐसी स्थिति कैसे पैदा हो गयी है? क्योंकि साम्प्रदायिक विषवमन करने वाले 'फ्रिंज' यानी हाशिये के भाजपा नेता व संघी तत्व निरन्तर अपना काम करते रहते हैं, समाज में साम्प्रदायिकता का ज़हर घोलते रहते हैं और खुलेआम धर्म संसदों में हत्याकाण्ड करने के ऐलान होते हैं, लेकिन देश की क़ानून-व्यवस्था व न्यायपालिका उसका कोई स्वत: संज्ञान नहीं लेती, हालाँकि सड़क के आवारा कुत्तों की नियति क्या हो, इसका संज्ञान भी हमारे देश में न्यायपालिका ले लेती है! हम मौजूदा आलेख में स्थान की सीमा के कारण इस पर भी बात नहीं कर पा रहे हैं कि 12 वर्षों में भारत में स्त्री-विरोधी अपराध अभूतपूर्व रूप से बढ़े हैं और पहली बार इसमें सत्ताधारी पार्टी या उससे जुड़े लोगों का नाम इतनी बारम्बारता के साथ आया है। इसके अलावा, हम इस पर भी अलग से किसी लेख में चर्चा करेंगे कि इन्हीं 12 वर्षों में दलित-विरोधी अपराधों में भी बेतरह बढ़ोत्तरी हुई है और विशेषकर मेहनतकश दलितों के जीवन और उनकी गरिमा पर बेतहाशा चोटें की गयी हैं।

उपरोक्त मसलों पर भी लम्बी और सकर्मक चर्चा होनी चाहिए क्योंकि यह हम मेहनतकशों के लिए ज़रूरी है कि हम इन बातों को समझें। लेकिन अभी हम मोदी सरकार के 12 वर्षों के दौरान देश की जनता, यानी शहरी व ग्रामीण मज़दूरों, छोटे व परिधिगत किसानों, आम मध्यवर्ग, छात्रों-युवाओं के सामाजिक-आर्थिक हालात के बद से बदतर होते जाने की ही चर्चा कर रहे हैं। अगर सिर्फ़ मोदी सरकार के 12 साल के इस रिपोर्ट कार्ड पर ही एक संक्षिप्त निगाह डाल ली जाये, तो यह साफ़ हो जाता है कि देश में इस क़दर पूँजीपरस्त और अमीरपरस्त सरकार शायद कभी नहीं आयी है।

इसमें कोई ताज्जुब की बात भी नहीं है क्योंकि पूँजी की सबसे सक्रियता के साथ, तानाशाहाना अन्दाज़ में सेवा करने का काम पूँजीपति वर्ग के अन्य किसी भी नुमाइन्दे की तुलना में फ़ासीवादी नुमाइन्दे कहीं ज़्यादा प्रभावी रूप में करते हैं।

निश्चित तौर पर, अन्य सभी पूँजीवादी पार्टियों की सरकारें भी पूँजीपति वर्ग की ही मैनेजिंग कमेटी होती हैं और उन्हीं के हितों की सेवा करती हैं। लेकिन दीर्घकालिक संकट के दौर में मुनाफ़े की गिरती औसत दर के संकट के कारण भारत ही नहीं दुनिया के कई देशों में पूँजीपति वर्ग ने अपने धनबल के बूते धुर-दक्षिणपंथी और धुर मेहनतकश-विरोधी सरकारें बनवायी हैं। दीर्घकालिक मन्दी का एक अहम चक्र 2007-08 में वैश्विक तौर पर शुरू हुआ था और उसका असर भारत की अर्थव्यवस्था तक 2010-11 तक आने लगा था। इसके बाद ही देश में जनता के बढ़ते असन्तोष को सोखकर मोदी सरकार के सत्ता में आने की ज़मीन अण्णा हज़ारे के इण्डिया अगेंस्ट करप्शन की मुहिम ने तैयार की थी। इसमें अरविन्द केजरीवाल ने भी अहम भूमिका निभायी थी और उसकी 'आम आदमी पार्टी' आज भी हर प्रदेश में भाजपा की चुनावी जीत की ज़मीन तैयार करने का काम करती है, चाहे कुछ राज्यों में सीधे 'आप' और भाजपा की ही टक्कर क्यों न हो।

बहरहाल, संकट के दौर में पूँजीपति वर्ग यह चाहता है कि उसकी मुनाफ़े की औसत दर क़ायम रहे या बढ़े और यह केवल एक रास्ते से सम्भव होता है: जनविरोधी नीतियों और मज़दूर-विरोधी नीतियों के ज़रिये।

ये नीतियाँ क्या हैं? *ये नीतियाँ हैं मज़दूरों की वास्तविक मज़दूरी, मेहनतकश जनता के वास्तविक आमदनी को कम करना ताकि मुनाफ़े की दर को बढ़ाया जा सके; तमाम सरकारी उपक्रमों का निजीकरण करना और उन्हें औने-पौने दामों पर अम्बानियों-अडाणियों को सौंपना; प्राकृतिक संसाधनों को, जो कि समूचे देश की साझा सम्पदा है, पूँजीपतियों के हाथों में सौंपना और इसके लिए जनता से उसकी साझी जल-जंगल-ज़मीन छीनना; इन दोनों क़दमों के ज़रिये पूँजीपति वर्ग के लिए लाभप्रद निवेश के नये अवसर पैदा किये जाते हैं; इसके अलावा, जनता पर अप्रत्यक्ष करों का बोझ बढ़ाना ताकि पूँजीपति वर्ग पर प्रत्यक्ष करों को कम किया जा सके और उनके कर-उपरान्त मुनाफ़े की दर को बढ़ाया जा सके; साथ ही, हर प्रकार के कल्याणकारी नीतियों को न्यूनातिन्यून बनाना, ग़रीब किसानों के लिए सब्सिडी को कम करते जाना जिससे कि पूँजीपति वर्ग को तमाम ऋण माफ़ियाँ, टैक्स हॉलीडे, लगभग मुफ़्त बिजली, पानी, ज़मीनें आदि दी जा सकें; और अन्त में, हर प्रकार के श्रम विनियमन को समाप्त करना (जैसा कि चार लेबर कोड लाकर मोदी सरकार ने किया है) जिससे कि मज़दूरों के श्रम-अधिकारों का हनन कर अपनी लागत को कम करने में मदद मिले और साथ ही हर प्रकार के वित्तीय विनियमन को समाप्त करना (जिससे कि पूँजीपति वर्ग को पूँजी प्राप्त करने, सट्टेबाज़ी करने और वित्तीय हेर-फेर करने में मदद मिले; यह सारा काम मोदी सरकार पूँजीपति वर्ग के लिए 'धन्धा करने की सहूलियत' देने, यानी 'ईज़ ऑफ़ डूइंग बिज़नेस' के नाम पर करती रही है।*

ठीक यही नीतियाँ हैं, जिन्हें मोदी सरकार ने पिछले 12 वर्षों में युद्धस्तर पर लागू किया है और जिन सामाजिक-आर्थिक प्रभावों और परिणामों की हमने ऊपर चर्चा की है, वे इन्हीं जनविरोधी, मज़दूर-विरोधी, आम मेहनतकश-विरोधी, आम मध्यवर्ग-विरोधी नीतियाँ हैं। यह है मोदी सरकार के 12 वर्षों का रिकॉर्ड।

इसके बावजूद, नग्नता और अश्लीलता के साथ सत्ताधारी पार्टी के नेता-मन्त्री इसका जश्न मना रहे हैं! यह जनता के ज़ख़्मों पर नमक रगड़ने के समान है।

योगी राज में मज़दूरों के हक़ में आवाज़ उठाना क़रार दिया गया जुर्म!

(पेज 1 से आगे)

और भी मनोहर और दिलचस्प होती जा रही हैं! "साक्ष्यों" और "गवाहों" के नाम पर झूठ के पुलिन्दे जो काफ़ी दिमाग़ी कसरत के बाद पुलिस ने तैयार किये हैं वह किसी सड़कछाप बॉलीवुड फ़िल्म की पटकथा को भी मात दे सकते हैं! वहीं दूसरी ओर, "पाकिस्तानी-नेपाली कनेक्शन" से लेकर "अर्बन नक्सल लिंक" ढूंढ निकालने वाली गोदी मीडिया को भी अचानक साँप सूंघ गया है! मज़दूर कार्यकर्ताओं के ख़िलाफ़ मनगढ़ंत झूठी ख़बरें चलाकर पब्लिक ओपिनियन बनाने में एकदम फिसड्डी साबित हुई यह पत्तलकारों की फ़ौज खुद एक आतंकी गिरोह है जिसकी जगह दरअसल सलाखों के पीछे है! लेकिन फिलहाल देश में उल्टी गंगा बह रही है: सामाजिक कार्यकर्ताओं व न्याय के लिए आवाज़ उठाने वालों को जेल और रेपिस्टों-दंगाइयों को बेल! वह भी तब अगर इन अपराधियों में से कोई ग़लती से गिरफ़्तार हो जाये तो, वरना तो इनकी खुलेआम मौज चालू है! ख़ैर, अब तो देश की जनता समझ चुकी है कि जो गोदी मीडिया बोले, सच उसके उलट है!

जहाँ तक उत्तर प्रदेश पुलिस व प्रशासन का प्रश्न है तो उसने इस पूरे मामले के दौरान जिस प्रकार के ग़ैर-क़ानूनी हथकण्डे अपनाये हैं, उनकी मिसालें कम हैं! मज़दूर आन्दोलन को ही साज़िश क़रार देना, प्रतिरोध को ही अपराध में बदल देना, मज़दूर कार्यकर्ताओं को आतंकवादी घोषित करना, ये इन्हीं हथकण्डों का हिस्सा है। चाहे सत्यम वर्मा और आकृति चौधरी पर राष्ट्रीय सुरक्षा क़ानून लगाये जाने का सवाल हो या एक के बाद एक फ़र्ज़ी एफ़आईआर का जाल बिछाकर निर्दोष कार्यकर्ताओं को हिरासत में रखने का सवाल हो: इन सबका एकमात्र लक्ष्य है उनकी रिहाई को अधिकतम सम्भव समय के लिए टालना और मज़दूरों को यह सन्देश देना कि हक़ के लिए संघर्ष करोगे तो हश्र यही होगा!

रासुका क़ानून के विषय में तो उच्च न्यायालयों से लेकर सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीशों द्वारा बार-बार टिप्पणी की गयी है कि सरकारें व पुलिस इसका इस्तेमाल लोगों को ग़ैर-वाजिब तरीक़े से जेल में रखने के लिए करती हैं और साथ ही इसका प्रयोग राजनीतिक विरोध और असहमति की आवाज़ों को दबाने के लिए किया जाता है। लगभग 79 प्रतिशत मामलों में एनएसए को न्यायालय ख़ारिज कर देते हैं, जो स्वयं इस क़ानून के दमनकारी चरित्र को दिखलाता है। दुनिया का सबसे बड़ा लोकतन्त्र कहलाने वाला भारत उन चन्देक देशों में से है जहाँ का संविधान 'प्रिवेण्टिव डिटेंशन' के क़ानून की इजाज़त देता है, जिसके तहत केवल सरकार या पुलिस प्रशासन के अधिकारियों को 'मनोगत तौर पर सन्तुष्ट' होने के आधार पर किसी को भी बिना किसी सबूत या ट्रायल के अधिकतम 12 माह तक जेल में रखा जा सकता है। 1980 में इस क़ानून के बनने के पहले 1977 तक ऐसा ही एक दूसरा क़ानून 'मीसा' 1971 से प्रभाव में था। उसके पहले 1950 में एक प्रिवेण्टिव डिटेंशन क़ानून आया था। 1977 से 1980 तक के तीन वर्ष ही आज़ाद भारतीय गणराज्य में ऐसा दौर हैं, जबकि ऐसा 'प्रिवेण्टिव डिटेंशन' का कोई क़ानून मौजूद नहीं था। इसके अलावा, आज़ाद भारत के पूरे इतिहास में आम इंसान की आज़ादी का मख़ौल बनाने वाला कोई न कोई ऐसा क़ानून मौजूद रहा है। इन क़ानूनों के लिए जो औपनिवेशिक क़ानून मॉडल का काम करता रहा है, वह है अंग्रेज़ों का कुख्यात रोलैट एक्ट। यही वह दमनकारी क़ानून था जिसके विरोध में जलियाँवाला बाग़ का जुटान हुआ था, जिस पर गोली चला कर अंग्रेज़ों ने हज़ारों भारतीय लोगों का क़त्ले-आम किया था। आज का राष्ट्रीय सुरक्षा क़ानून भी रोलैट एक्ट के दमनकारी प्रावधानों के सिद्धान्तों पर ही चलता है। इसके अनुसार, अगर किसी पुलिस अधिकारी, डीएम या सरकार को व्यक्तिगत तौर पर यह "आत्मगत सन्तोष" है कि कोई व्यक्ति राष्ट्रीय सुरक्षा या सार्वजनिक क़ानून-व्यवस्था के लिए ख़तरा हो सकता है, तो उसे बिना किसी सबूत या मुक़दमे के जेल में रखा जा सकता है। यह ऐसा क़ानून नहीं है जिसके तहत आपको किसी किये गये अपराध के आधार पर हिरासत में रखा जाये, बल्कि एक ऐसा क़ानून है जो बिना कोई अपराध किये भी आपको जेल पहुँचा सकता है क्योंकि पुलिस या सरकार को यह "लगता है" कि आप अपराध कर सकते हैं!

हालिया दिनों में सोनम वांगचुक, डा. कफ़ील ख़ान जैसे लोगों पर यह दमनकारी क़ानून लगाया गया था। इसके पहले इसे ट्रेड यूनियन एक्टिविस्ट ए. के. रॉय व अन्य सामाजिक कार्यकर्ताओं के विरुद्ध भी इस्तेमाल किया जा चुका है। ज़ाहिर है, जैसा कि कई बार विभिन्न न्यायालयों ने भी इंगित किया है कि सरकारें इस दमनकारी काले क़ानून का इस्तेमाल राजनीतिक विरोध व आम लोगों के जनवादी व नागरिक अधिकारों को दबाने के लिए करती रही हैं। जनवादी उसूलों से देखा जाये तो ऐसे क़ानून का अपने आपको लोकतान्त्रिक देश कहने वाले किसी देश में कोई स्थान नहीं हो सकता है। लेकिन चूँकि हमारे देश के संविधान के आर्टिकल 22 के एक आपवादिक क्लॉज़ में ऐसे क़ानून की इजाज़त है, इसलिए इस देश का शासक वर्ग और उसकी सरकारें (चाहें वे किसी भी पूँजीवादी चुनावी पार्टी की हों) ऐसे दमनकारी क़ानून का इस्तेमाल करती रही हैं। कई क़ानूनी विशेषज्ञों के अनुसार, यह क़ानून प्राकृतिक न्याय के बुनियादी सिद्धान्तों के ख़िलाफ़ जाता है।

मौजूदा मामले में सत्यम वर्मा और आकृति चौधरी के विरुद्ध इसी क़ानून का इस्तेमाल किया गया है। अब आते हैं योगेश मीणा की गिरफ़्तारी के सवाल पर। यूपी पुलिस द्वारा अवैध अपहरणों और ग़ैर-क़ानूनी गिरफ़्तारियों की कड़ी में योगेश मीणा का मामला सबसे ताज़ा है। 30 मई 2026 को यूपी एसटीएफ़ (उत्तर प्रदेश स्पेशल टास्क फोर्स) के कई लोगों ने सादी वर्दी में बिना अपनी पहचान बताये लगभग 1 बजे दिल्ली विश्वविद्यालय के रामजस कॉलेज परिसर के बाहर से योगेश मीणा (विधि संकाय में एलएलबी के छात्र और एसआरसीसी के पूर्व छात्र) तथा समीर कुमार (रामजस कॉलेज में बीए के छात्र) को अवैध रूप से उठा लिया। दोनों छात्रों को जबरन एक चारपहिया वाहन में बैठाया गया। उन्हें न तो कोई वारण्ट दिखाया गया, न गिरफ़्तारी के आधार बताये गये, न कोई सीज़र मेमो दिया गया और न ही उन्हें उनकी गिरफ़्तारी से सम्बन्धित कोई आधिकारिक दस्तावेज़ दिखाये गये। इसके बाद उन्हें कई घण्टों तक दिल्ली में इधर-उधर घुमाया गया। यही नहीं, जब पुलिसकर्मियों को पता चला कि योगेश अनुसूचित जनजाति (एसटी) समुदाय से हैं और समीर अनुसूचित जाति (एससी) समुदाय से हैं, तब उन्हें घटिया जातिसूचक गालियों और अपमानजनक टिप्पणियों का सामना करना पड़ा। कई अख़बारों और स्वतन्त्र पत्रकारों की रिपोर्टों के ज़रिये तथा योगेश और समीर के वकीलों द्वारा राष्ट्रीय अनुसूचित जनजाति आयोग, राष्ट्रीय मानवाधिकार आयोग, दिल्ली पुलिस आयुक्त, डीसीपी नॉर्थ, दिल्ली पुलिस तथा मॉरिस नगर पुलिस स्टेशन के थाना प्रभारी (एसएचओ) के समक्ष दर्ज की गयी शिकायतों में उत्तर प्रदेश पुलिस द्वारा किये गये जातिगत गाली-गलौज, मौखिक तथा शारीरिक हमले के चौंकाने वाले आरोप सामने आये।

कई घण्टों तक चले इस गाली-गलौज और डराने-धमकाने के बाद समीर को रिहा कर दिया गया, जबकि योगेश को नोएडा मज़दूर आन्दोलन में हिंसा मामले से सम्बन्धित एफ़आईआर संख्या 169/26 के तहत गिरफ़्तार कर लिया गया। बाद में उसे एफ़आईआर संख्या 163/26 और 164/26 में भी गिरफ्तार कर लिया गया। योगेश पर मज़दूरों को हिंसा के लिए उकसाने के झूठे और बेबुनियाद आरोप लगाये गये हैं। योगेश का एकमात्र "अपराध" यह था कि उन्होंने नोएडा के मज़दूरों के साथ एकजुटता व्यक्त की। उन्हें शान्तिपूर्ण ढंग से विरोध-प्रदर्शन करने की अपील की, तथा यूपी पुलिस द्वारा क़ानूनी प्रक्रिया के उल्लंघन और कार्यकर्ताओं एवं मज़दूरों के ख़िलाफ़ चलाये जा रहे सुनियोजित उत्पीड़न की खुलकर आलोचना की।

चूँकि उत्तर प्रदेश पुलिस के पास योगेश मीणा की गिरफ़्तारी की कोई वास्तविक वजह या आधार नहीं था, वैसे ही जैसे अन्य गिरफ़्तार मज़दूर कार्यकर्ताओं की गिरफ़्तारी के सम्बन्ध में नहीं था, इसलिए उसका नाम ड्राइवर अनिल कुमार के साथ जोड़ा गया। ज्ञात हो कि अनिल कुमार वही ड्राइवर है जिसने नोएडा के मज़दूरों के व्हाट्सऐप ग्रुप में भड़काऊ मैसेज भेजे थे, जिसने स्वयं को उत्तर प्रदेश पुलिस के एक अधिकारी के लिए काम करने वाला बताया था, और जिसे बाद में यूपी पुलिस ने गिरफ़्तार किया था या फिर जिसे उत्तर प्रदेश पुलिस को मजबूरन गिरफ़्तार करना पड़ा था।

पाठकों को याद दिला दें कि 'जनसत्ता' व एक्सप्रेस ग्रुप और अन्य कई मीडिया समूहों की रपटों के अनुसार, कई कार्यकर्ताओं और स्वतन्त्र पत्रकारों ने इस बात के प्रमाण कई हफ़्ते पहले से ही (17 अप्रैल से ही) सार्वजनिक कर रखे थे कि मज़दूरों के व्हाट्सऐप ग्रुपों में उत्तर प्रदेश पुलिस के लोग, जैसे नोएडा पुलिस की एक सबइंस्पेक्टर बीना, जोकि नोएडा सैक्टर 142 में कार्यरत है और नोएडा पुलिस के एक अधिकारी का ड्राइवर अनिल कुमार (जैसा की उसने खुद दावा किया था) मौजूद थे, जो भड़काऊ ऑडियो सन्देश, स्क्रीनशॉट व्हाट्सऐप ग्रुप में शेयर कर रहे थे। यह जानकारी सार्वजनिक होने के बावजूद भी उत्तर प्रदेश पुलिस ने इसपर कोई स्पष्टीकरण देना ज़रूरी नहीं समझा था और न ही इन दोनों पर कोई उचित कार्रवाई ही की गयी थी! उत्तर प्रदेश प्रशासन द्वारा बैठायी गयी मजिस्ट्रेट जाँच के सामने कुछ स्वतन्त्र पत्रकारों और सामाजिक कार्यकर्ताओं ने पुलिस के विरुद्ध मौजूद इन प्रमाणों को साझा करने का प्रयास और जाँच में सहयोग करने का प्रयास भी किया, लेकिन इस जाँच टीम के अधिकारियों ने ये प्रमाण लेने से इंकार कर दिया। इसके बाद सुप्रीम कोर्ट में एक याचिका के माध्यम से उच्चतम न्यायालय के संज्ञान में इस बात को गिरफ़्तार कार्यकर्ताओं के अधिवक्ताओं द्वारा लाया गया जिसके बाद सुप्रीम कोर्ट ने 19 मई को उत्तर प्रदेश सरकार और उत्तर प्रदेश पुलिस को जवाबतलब करते हुए नोटिस प्रेषित किया। इसके बाद आनन-फ़ानन में उत्तर प्रदेश पुलिस ने ड्राइवर अनिल कुमार को गिरफ़्तार कर लिया था, वह भी नोएडा की मदरसन कंपनी के पीछे से!

लेकिन उत्तर प्रदेश पुलिस द्वारा रचित मनोहर कहानियाँ अभी और दिलचस्प मोड़ लेने वाली थीं! खुद पुलिस द्वारा घोषित "वांछित अभियुक्त नम्बर 1" यानी ड्राइवर अनिल कुमार हिंसा भड़काने के पक्के सबूतों के बावजूद दो हफ़्तों के भीतर ज़मानत पर रिहा हो गया लेकिन वहीं दूसरी तरफ़ तमाम बेगुनाह मज़दूर व मज़दूर कार्यकर्ता बिना किसी ठोस प्रमाण की मौजूदगी के भी दो महीने से ज़्यादा समय से जेल में बन्द हैं। यूपी पुलिस की इस मनोहर दास्तान को जो तथ्य और भी मनोहर बनाता है वह यह है कि पुलिस ने कोर्ट में उसके भड़काऊ ऑडियो मैसेज को सबूत के तौर पर पेश ही नहीं किया, हालांकि पुलिस ने उसकी ज़मानत का "कड़ा" विरोध ज़रूर किया! बताते चलें कि अनिल कुमार के अधिवक्ता के तौर पर सूरजपुर कोर्ट बार असोसियेशन के प्रेसिडेण्ट मनोज भाटी पेश हुए थे।

अनिल कुमार की ज़मानत की सुनवाई के दौरान उसके वकील ने दलील दी कि एफ़आईआर संख्या 169 में उसका नाम नहीं था, एफ़आईआर ख़ुद ही काफी देरी से और बिना किसी वजह के दर्ज की गयी थी, अनिल के ख़िलाफ़ हिंसा भड़काने का कोई सबूत नहीं है, उसका कोई आपराधिक इतिहास नहीं है। ये सभी बातें तो उन 8 कार्यकर्ताओं और कई मज़दूरों पर भी लागू होती हैं जो करीब दो महीने से जेल में बन्द हैं! यही बातें उन सभी आरोपियों के लिए क्यों सही नहीं थीं जिनकी ज़मानत ख़ारिज कर दी गयी? अनिल कुमार के वकील ने यह भी दलील दी कि अनिल कुमार 13 अप्रैल को दिल्ली में काम पर था, जिससे हिंसा में उसकी भूमिका की कोई भी गुंजाइश ख़त्म हो जाती है। तो फिर सत्यम वर्मा का क्या, जो लखनऊ में थे? यह तथ्य सत्यम वर्मा को ज़मानत देने की वजह क्यों नहीं बना? सत्यम वर्मा पर बिना किसी कारण के दमनकारी रासुका लगाया गया है, ताकि उनकी ज़मानत को ही फ़िलहाल मुश्किल बना दिया जाये। सच तो यह है कि अनिल कुमार के ख़िलाफ़ हिंसा भड़काने को लेकर पक्के व सार्वजनिक सबूत मौजूद हैं लेकिन फिर भी उसे योगी राज में काफ़ी जल्दी "इंसाफ़" मिल गया!

अनिल कुमार से जुड़ी उत्तर प्रदेश पुलिस की कहानी में और भी विरोधाभास सामने आये हैं। अनिल कुमार ने दावा किया था कि वह नोएडा पुलिस के किसी सीनियर अधिकारी के लिए काम करता था, उसने उसका नाम "विजय गुप्ता" बताया था। एक महीने से ज़्यादा समय तक चुप रहने के बाद, उत्तर प्रदेश पुलिस ने गिरफ़्तारी के बाद दावा किया कि वह दिल्ली में एक व्यक्ति का प्राइवेट ड्राइवर था। फिर, कुछ दिनों बाद, एसआईटी जाँच अध्यक्ष ADCP स्वतंत्र सिंह ने दावा किया कि वह एक सेंट्रल गवर्नमेंट एजेंसी में ड्राइवर था। अदालत में जमा किये गये अनिल कुमार के पहचान पत्र में मिनिस्ट्री ऑफ़ होम अफ़ेयर्स का पास दिखाया गया है, लेकिन यह नहीं बताया गया है कि वह किसके लिए काम करता है। इन अन्तरविरोधी दावों की असल वजह क्या है, यह उत्तर प्रदेश पुलिस ही बता सकती है। यही नहीं, अब तक उत्तर प्रदेश पुलिस ने अनिल कुमार के कॉल डिटेल रिकॉर्ड या बैंक सम्बन्धी लेनदेन के डिटेल्स का खुलासा नहीं किया है, जिससे यह साबित हो सके कि उसका उत्तर प्रदेश पुलिस से कोई सम्बन्ध है कि नहीं। ये सभी गड़बड़ियाँ उत्तर प्रदेश पुलिस के दावों, बयानों और कार्रवाई पर एक बार फिर गम्भीर सवाल खड़े करती हैं।

कई स्वतंत्र पत्रकारों, कार्यकर्ताओं, वकीलों आदि ने इस पूरे घटनाक्रम में उत्तर प्रदेश पुलिस की संदेहास्पद भूमिका को देखते हुए यह माँग की है कि अनिल कुमार के पिछले एक साल के कॉल डिटेल रिकॉर्ड, मोबाइल लोकेशन, बैंक ट्रांज़ैक्शन और उसकी दूसरी गाड़ियों का रिकॉर्ड, जिन्हें वह संविदा पर चलाता या चलवाता था, सार्वजनिक किया जाये। इन जनपक्षधर नागरिकों का मानना है कि अगर ये रिकॉर्ड अविलम्ब सार्वजनिक किये जाते हैं, तो नोएडा मज़दूर आन्दोलन में हिंसा भड़काने में 'एजेण्ट प्रोवोकेटर' के तौर पर उत्तर प्रदेश पुलिस की मिलीभगत साफ़ तौर पर सामने आ सकती है। इसके अलावा इन प्रगतिशील नागरिकों व कार्यकर्ताओं ने एक बार फिर एसआई बीना की भूमिका पर उत्तर प्रदेश पुलिस की चुप्पी पर सवाल खड़े किये हैं।

(अगले पेज पर जारी)

योगी राज में मज़दूरों के हक़ में आवाज़ उठाना क़रार दिया गया जुर्म!

(पिछले पेज से आगे)

मज़दूरों के व्हाट्सऐप ग्रुप में "अंडरकवर इंटेलिजेंस ऑपरेटिव" के तौर पर काम कर रही एसआई बीना पर उत्तर प्रदेश पुलिस ने अब तक कोई कार्रवाई क्यों नहीं की है जो मज़दूरों ग्रुप में घुसकर आगजनी के भड़काऊ स्क्रीनशॉट भेज रही थी? उत्तर प्रदेश पुलिस की एसआई बीना के बारे में चुप्पी और अनिल कुमार से जुड़े सभी रिकॉर्ड सार्वजनिक करने में आनाकानी, दोनों ही सवाल खड़े करते हैं: उत्तर प्रदेश पुलिस क्या छिपाने की कोशिश कर रही है?

वहीं जेल में बन्द राजनीतिक कार्यकर्ताओं की रिहाई को टालने के लिए उत्तर प्रदेश पुलिस ने आपराधिक न्यायिक प्रक्रिया को हथियार बनाते हुए गिरफ्तार कार्यकर्ता आदित्य आनन्द, रूपेश रॉय, सत्यम वर्मा, आकृति चौधरी, सृष्टि गुप्ता, मनीषा चौहान, हिमांशु ठाकुर और योगेश मीणा के नाम कई और एफ़आईआर में जोड़ दिये हैं, ताकि मज़दूरों के साथ खड़े होने के "जुर्म" में इन कार्यकर्ताओं, कलाकारों, छात्रों, पत्रकारों को लगातार जेल में रखा जा सके। नोएडा के फेज़ 2 पुलिस स्टेशन में पहले से दर्ज 4 एफ़आईआर (FIR 163, 164, 165, 169) के अलावा उनके नाम अलग-अलग पुलिस स्टेशनों (सेक्टर 58, फेज़ 3 और सेक्टर 63) में दर्ज 5-6 और एफ़आईआर (FIR 116, 117, 149, 151, 157, 158) में भी शामिल किये गये हैं। इन सभी एफ़आईआर में कहानी एक जैसी है, ये सभी एक ही 'कॉज़ ऑफ एक्शन' यानी एक ही घटना से निकली हैं, एक ही टाइमलाइन और भौगोलिक क्लस्टर से सम्बन्धित हैं, और एक ही "साज़िश" की थ्योरी से संचालित हैं। जब देश की आम जनता ने उत्तर प्रदेश पुलिस की अनगिनत बेतुकी साज़िशों को नकार दिया, तो पुलिस अब इन राजनीतिक कार्यकर्ताओं को क़ानूनी और नौकरशाहाना प्रक्रिया के अनन्त सिलसिले में फँसाने और उनकी रिहाई को और मुश्किल बनाने के लिए इन फ़र्ज़ी एफ़आईआर का जाल बुन रही है।

उत्तर प्रदेश पुलिस उपरोक्त अवैध कारनामे गिरफ़्तारी के दो महीने बाद और पहले से गिरफ़्तार कार्यकर्ताओं पर जनविरोधी रासुका लगाने के एक महीने बाद कर रही है। यह अपनेआप में सिद्ध करने के लिए काफ़ी है कि पुलिस के पास जेल में बन्द कार्यकर्ताओं के ख़िलाफ़ एक भी ठोस सबूत नहीं है और वह यह सिर्फ़ क़ानूनी प्रक्रिया को सज़ा में बदलकर जेल की अवधि बढ़ाने के लिए कर रही है। दरअसल अपनी इन्हीं हरक़तों के ज़रिये उत्तर प्रदेश पुलिस ने इलाहाबाद उच्च न्यायालय की हालिया टिप्पणियों को सही साबित कर दिया है कि उत्तर प्रदेश पुलिस संविधान के प्रति वफ़ादारी के लिए नहीं, बल्कि अपने राजनीतिक वरिष्ठों को खुश करने के लिए काम करती है, कि "गिरफ्तारियाँ बिना सही प्रक्रिया के की जाती हैं, कई बार ग़लत इरादों से एफ़आईआर दर्ज की जाती हैं या दबा दी जाती हैं, और अधिकारियों की मर्ज़ी से मनमाने ढंग से 'प्रिवेंटिव डिटेंशन' के नियम लागू किए जाते हैं।"

नोएडा मज़दूर आन्दोलन के दौरान और उसके बाद का उत्तर प्रदेश पुलिस का समग्र आचरण इलाहाबाद उच्च न्यायालय के उपरोक्त प्रेक्षणों को सत्यापित ही करता है। अवैध रूप से लोगों को उठाने, हिरासत में प्रताड़ना, अन्तरराज्यीय क़ानूनी प्रक्रियाओं के उल्लंघन तथा अब खुले तौर पर किये गये शर्मनाक जातिसूचक दुर्व्यवहार जैसे मामलों ने यह प्रश्न खड़ा किया है कि क्या इस पूरे प्रकरण में जाँच निष्पक्ष और संवैधानिक ढंग से की जा रही है? ये सारे सवाल गहरे सन्देह पैदा करने वाले हैं और तमाम ऐक्टिविस्टों, बुद्धिजीवियों, पत्रकारों व वक़ीलों द्वारा बार-बार उठायी जा रही इस माँग को बल देते हैं कि नोएडा मज़दूर आन्दोलन के दौरान शुरू से अन्त तक हुई तमाम घटनाओं में उत्तर प्रदेश पुलिस व प्रशासन की भूमिका की उच्च स्तरीय न्यायिक जाँच होनी चाहिए ताकि पूरे मसले की सच्चाई सामने आ सके।

साथ ही, सवाल तो यह भी उठता है कि अगर मज़दूरों के अधिकारों के पक्ष में किसी संघर्ष या आन्दोलन में जाकर समर्थन देना या उसका ऑनलाइन समर्थन करना "अपराध" और "राष्ट्र की सुरक्षा" के लिए ख़तरा है, तो इस "राष्ट्र" में कौन-कौन शामिल है और "राष्ट्रीय हित और राष्ट्रीय सुरक्षा" किनके हितों और किनकी सुरक्षा की बात करते हैं? क्या इसमें देश के 60 करोड़ से ज़्यादा शहरी और ग्रामीण मज़दूर शामिल नहीं हैं जिनका क़रीब 90 प्रतिशत हिस्सा 10-12 हज़ार रुपये महीने की मामूली-सी मज़दूरी में 12-12 घण्टे काम करने के लिए मजबूर हैं, जिसे डबल रेट से ओवरटाइम भुगतान, ईएसआई-पीएफ़ और सामाजिक सुरक्षा के अन्य अधिकार प्राप्त नहीं हैं? जो अपने बच्चों के लिए दो वक़्त की रोटी तक नहीं जुटा पा रहा है, दवा-इलाज और शिक्षा तो बहुत दूर की बात है? क्या उनके द्वारा अपने हक़ों की आवाज़ उठाने और सामाजिक कार्यकर्ताओं, बुद्धिजीवियों, पत्रकारों, वक़ीलों, छात्रों-युवाओं द्वारा उनका समर्थन किये जाने से "राष्ट्र की सुरक्षा" और "सार्वजनिक क़ानून-व्यवस्था" के लिए ख़तरा पैदा हो जाता है?

फिर इस देश में 90 फ़ीसदी मज़दूरों के श्रम अधिकारों का ख़ुलेआम हनन करने वाले, उन्हें न्यूनतम मज़दूरी (जो पहले ही बहुत कम है) न देने वाले, डबल रेट से ओवरटाइम न देने वाले, उन्हें कार्यस्थल सुरक्षा प्रबन्ध न देने वाले, उन्हें सामाजिक सुरक्षा न देने वाले मालिकों, कम्पनियों और उनके प्रबन्धन की ऐसे ग़ैर-क़ानूनी कार्य करने से "राष्ट्र की सुरक्षा" और "सार्वजनिक क़ानून-व्यवस्था" को ख़तरा क्यों नहीं पैदा होता और वह "अपराध" की श्रेणी में क्यों नहीं आते? 13 अप्रैल के बाद उत्तर प्रदेश पुलिस ने सामाजिक कार्यकर्ताओं समेत क़रीब 1200 मज़दूरों को बिना किसी देरी के हिरासत में ले लिया। लेकिन पिछले कई दशकों से श्रम क़ानूनों की ख़ुलेआम धज्जियाँ उड़ाने, सुरक्षा के इन्तज़ामात न करने, न्यूनतम मज़दूरी न देने, साप्ताहिक अवकाश न देने, डबल रेट से ओवरटाइम भुगतान न करने के लिए कितनी कम्पनियों के मालिकों, प्रबन्धकों व अधिकारियों को हिरासत में लिया गया, उनके ख़िलाफ़ एफ़आईआई दर्ज हुई और उनपर रासुका लगाया गया?

तो आज मेहनतकशों और मज़दूरों का यह सवाल पूछना क्या जायेज़ नहीं है कि ऐसा तो नहीं कि जिस "राष्ट्र", उसके "हितों" और उसकी "सुरक्षा" की बातें बार-बार तमाम सरकारें, मालिकान व प्रबन्धन, तमाम कम्पनियाँ, पुलिस व प्रशासन और मुख्यधारा का मीडिया अनन्त रूप से करते रहते हैं, उस "राष्ट्र" में केवल इस देश के धनिक वर्ग, मालिक वर्ग, उनकी नुमाइन्दगी करने वाले नेता व मन्त्री, ऊँचे नौकरशाह व अधिकारी शामिल हैं?

ऐसा तो नहीं कि उस "राष्ट्र" में देश के ग़रीब, मज़दूर, छोटे किसान, मेहनतकश और निम्न-मध्यवर्ग के लोग और उनके हक़ों की हिमायत करने वाले सामाजिक व राजनीतिक कार्यकर्ता शामिल ही नहीं हैं? और क्या यह सवाल भी जायज़ नहीं है कि मज़दूर अधिकारों की बात करना ही क्यों जुर्म में तब्दील कर दिया गया है? क्यों हड़ताल, संघर्ष, प्रतिरोध और आन्दोलन करने को ही अपराध क़रार दे दिया गया है? ये सवाल हर इंसाफ़पसन्द नागरिक के सामने आज खड़े हैं।

कर्नाटक और तेलंगाना में न्यूनतम वेतन वृद्धि : नाकाफ़ी और देरी से लागू की गयी बढ़ोत्तरी

(पेज 13 से आगे)

मुनाफ़ा और मज़दूरी व्युत्क्रमानुपाती होते हैं। इसको गोल करके कर्नाटक के पूँजीपति कोर्ट में और मीडिया में नंगा झूठ बोल रहे हैं। उनके अनुसार, कर्नाटक सरकार द्वारा की गयी वेतन-बढ़ोत्तरी उनका दमन है और उनके धन्धा करने के संवैधानिक हक़ का हनन है! पूँजीवादी मानकों से इन सेठों-व्यापारियों का कहना सही भी है क्योंकि पूँजीवादी जनवाद का मर्म ही मज़दूरों के लिए यह है कि पूँजीपतियों को मज़दूरों का शोषण करने की आज़ादी मिले! इसपर चोट पूँजीवादी संविधान का उल्लंघन नहीं होगा तो क्या होगा? "धन्धा करने की आज़ादी" का मतलब ही है मुनाफ़ा कमाने की आज़ादी, चाहे इसके लिए पूँजीपतियों को मज़दूरों की हड्डियों का चूरा बनाकर ही क्यों न बेचना पड़े। बहरहाल, कोर्ट में कर्नाटक के मालिकों के एक संघ ने चार लेबर कोड का हवाला देकर भी मौजूदा बढ़ोत्तरी को निरस्त करने की अपील की है। उनका यह भी दावा है कि यह वेतन-बढ़ोत्तरी भयंकर आर्थिक बर्बादी लाएगी और आर्थिक संकट को और बढ़ावा देगी। अचरज तब होता है जब वे कहते हैं कि वे हर साल ही मज़दूरों के वेतन बढ़ाकर देते रहे हैं! उनकी बातें सुनकर ऐसा लगता है जैसे कर्नाटक के मालिकों के कुल निवेश का बड़ा हिस्सा मज़दूरी पर ही "ज़ाया" होता है और यह बढ़ी हुई मज़दूरी ही आर्थिक संकट का कारण है! इनकी चोरी तब पकड़ी जाती है जब हम ऐतिहासिक तौर पर कर्नाटक के उद्योगों में मज़दूरी पर निवेश को देखते हैं। यह लगातार कम होता गया है। यह कर्नाटक के भिन्न उद्योगों के लिए तालिका - 1 से स्पष्ट है।

ऐतिहासिक तौर पर यह तालिका मालिकों द्वारा कुल निवेश में मशीनरी और तकनोलॉजी पर बढ़ती हिस्सेदारी को भी दर्शाती है। यानी मालिक मज़दूरी पर निवेश को लगातार सापेक्षिक तौर पर कम करते जा रहे हैं। वास्तव में, जिस चीज़ की जाँच होनी चाहिए वह यह है कि कुल पूँजी निवेश में उत्पादन के साधनों पर होने वाले निवेश की तुलना में मज़दूरी पर निवेश कितना हुआ है। पूँजीवादी उत्पादन का आम नियम होता है कि पूँजीपतियों की आपसी प्रतिस्पर्द्धा उन्हें लगातार श्रम की उत्पादकता को बढ़ाने के लिए मशीनों व तकनोलॉजी पर निवेश को बढ़ाने के लिए बाध्य करती है और लम्बी दूरी में हमेशा ही कुल पूँजी निवेश में उत्पादन के साधनों पर निवेश मज़दूरी पर निवेश के सापेक्ष बढ़ता है। ऐसा तब भी सम्भव है जब निरपेक्ष रूप में मज़दूरी पर निवेश भी बढ़ा हो क्योंकि कुल पूँजी निवेश ही उससे कहीं तेज़ गति से बढ़ा होता है। असल बात है उत्पादन के साधनों पर निवेश और मज़दूरी पर होने वाले निवेश का अनुपात, जो दीर्घकालिक प्रवृत्ति के रूप में पूँजीवाद में हमेशा ही बढ़ता है। इसे पूँजी का आवयविक संघटन बढ़ना कहा जाता है। कर्नाटक और तेलंगाना में मामले में भी यह बढ़ा है, जबकि कोर्ट में वे मज़दूरी पर होने वाले "ख़र्चे" का दुखड़ा रो रहे हैं। तालिका से साफ़ है कि साल दर साल पूँजीपतियों ने कच्चे माल, मशीनरी और अन्य मालों पर ख़र्च बढ़ाया है जबकि मज़दूरी पर होने वाला ख़र्च लगातार घटाया है। पूँजीवादी व्यवस्था में यह होना लाज़िमी है, जैसा कि हमने ऊपर बताया है। (इसके बारे में विस्तार में जानने के लिए देखें: **क्रान्तिकारी मज़दूर शिक्षण माला – 15 : सापेक्षिक बेशी मूल्य का उत्पादन,** अभिनव, *मज़दूर बिगुल* नवम्बर 2023) इसे ही मार्क्स ने पूँजी का आवयविक संघटन का बढ़ना कहा था यानी स्थिर पूँजी (मशीनरी, कच्चा माल, अन्य सहायक सामग्री, आदि पर होने वाला पूँजी निवेश) और परिवर्तनशील पूँजी (मज़दूरी पर होने वाला पूँजी निवेश) का अनुपात, जो कि ऐतिहासिक तौर पर बढ़ता रहता है।

यहाँ यह ज़िक्र करना भी उपयोगी होगा कि जब पूँजी का आवयविक संघटन समूची अर्थव्यवस्था में ही औसत तौर पर बढ़ता है, तो यह मुनाफ़े की गिरती दर की प्रवृत्ति का कारण बनता है और पूँजीवादी आर्थिक संकट को जन्म देता है। यहाँ यह समझना काफ़ी होगा कि अधिक मुनाफ़ा हासिल करने के लिए क़ीमत-प्रतिस्पर्धा में उलझे पूँजीपति अपने इस क़दम की वजह से मुनाफ़े को दीर्घकालिक तौर पर गिरता हुआ पाते हैं और आर्थिक संकट के भँवर में उलझ जाते हैं। अगर हम कर्नाटक के उद्योगों की उपरोक्त तालिका देखें तो यह साफ़ है कि ऐतिहासिक तौर पर पूँजी का आवयविक संघटन बढ़ता रहा है। यही प्रक्रिया जब पूरी अर्थव्यवस्था के पैमाने पर चलती है तो यह मुनाफ़े की औसत दर को गिराती है और आर्थिक संकट को जन्म देती है।

मौजूदा वैश्विक और देशव्यापी पूँजीवादी आर्थिक संकट के लिए जो आधारभूत कारक ज़िम्मेदार है वह यही लाभप्रदता का संकट है, जिसके पीछे वास्तव में पूँजी का बढ़ता आवयविक संघटन उत्तरदायी है, लेकिन जिसका ठीकरा पूँजीपति हमेशा की तरह वेतन-वृद्धि पर डालना चाहते हैं, ताकि मज़दूरों की मज़दूरी को न्यूनातिन्यून बनाकर रखा जा सके।

कर्नाटक के पूँजीपतियों का हाई कोर्ट में यह दावा कि उनका मज़दूरी पर "ख़र्चा" बढ़ता जा रहा है सच्चाई से मीलों दूर है। सच तो यह है कि लगातार ही कर्नाटक, तेलंगाना और भारत के अन्य राज्यों में पूँजीपति मज़दूरों को बेहद कम मज़दूरी पर खटा रहे हैं और उनका बस चले तो वे मज़दूरों को मुफ़्त में खटाकर अपना "राष्ट्र-निर्माण" करते रहें! कर्नाटक और तेलंगाना की सरकारों ने जो वेतन-वृद्धि की है वह देश भर में जारी हड़ताल व आन्दोलन के दबाव के चलते हुई है।

हमने देखा कि एक तो यह वेतन वृद्धि सभी मज़दूरों के लिए लागू नहीं होगी और यह नाकाफ़ी भी है। सभी पेशे के मज़दूरों को यह हक़ मिले और न्यूनतम वेतन रु. 30,000 मिले, इसके लिए मज़दूरों को अपनी कमर कसनी होगी। साथ ही, काग़ज़ों पर जो वेतन पारित हुआ है वह वास्तव में लागू हो इसके लिए मज़दूरों को एकजुट होकर संघर्ष करना होगा। साथ ही, आज ज़रूरत है कि कर्नाटक और तेलंगाना ही नहीं बल्कि पूरे देश के मज़दूर उचित मज़दूरी के हक़ के लिए आवाज़ उठाएँ और इसके लिए एक देशव्यापी मज़दूर आन्दोलन खड़ा करें तभी सत्तासीन सरकारें हमारी बात सुनेंगी।

कर्नाटक और तेलंगाना में न्यूनतम वेतन वृद्धि : नाकाफ़ी और देरी से लागू की गयी बढ़ोत्तरी

● सनी

कर्नाटक और तेलंगाना में बिना किसी प्रत्यक्ष हड़ताल आन्दोलन के दोनों राज्यों में सत्तासीन कांग्रेस सरकारों ने न्यूनतम वेतन में वृद्धि कर ख़ुद को मज़दूर-हितैषी घोषित किया है। निश्चित ही यह वेतन-वृद्धि स्वागतयोग्य बात है लेकिन कांग्रेस की राज्य सरकारों द्वारा की गयी यह वृद्धि नाकाफ़ी है, हालाँकि हरियाणा और उत्तर प्रदेश में भाजपा सरकारों द्वारा की गयी बढ़ोत्तरियों से यह निश्चित ही ज़्यादा है। यह बढ़ोत्तरी तब हुई है जब पूरे देश में हड़ताल आन्दोलन की लहर कभी ऊपर तो कभी नीचे होते हुए जारी है। इस साल पानीपत, बरौनी, मानेसर, नोएडा से लेकर सूरत आदि शहरों में मज़दूरों ने स्वत:स्फूर्त हड़ताल कर दी। हर जगह ही मज़दूरों की हड़तालों को राज्य की भाजपा सरकारों ने कुचलने का काम किया। इसमें नोएडा में हुए मज़दूर आन्दोलन को सबसे अधिक पुलिसिया दमन का सामना करना पड़ा है और अभी भी उत्तर प्रदेश की ग़ैर-क़ानूनी और असंवैधानिक दमनकारी हरक़तें जारी हैं, ताकि पूँजीपतियों को यह सन्देश सम्प्रेषित किया जा सके कि उनके "धन्धा करने की सहूलियत" में मज़दूर अधिकारों की बाधा नहीं आने दी जायेगी। बहरहाल, हड़ताल के दबाव में हरियाणा में सरकार ने वेतन में 30-35 प्रतिशत वृद्धि की तो वहीं और उत्तर प्रदेश में यह महज़ 20 प्रतिशत तक ही हुई है।

कर्नाटक और तेलंगाना द्वारा वेतन-वृद्धि पर कई वामपन्थी और लिबरल तालियाँ बजा रहे हैं लेकिन असल बात तो यह है कि यह कांग्रेस की मज़दूरों के प्रति पक्षधरता नहीं बल्कि देश भर में जारी हड़ताल आन्दोलन के दबाव की वजह से हुआ है। दूसरी बात यह है कि यह बढ़ोत्तरी भी नाकाफ़ी है। इसके अलावा, कर्नाटक में यह केवल 83 उद्योगों के मज़दूरों पर लागू होगी और 19 उद्योगों को इससे बाहर रखा गया है। इन 19 उद्योगों में गारमेण्ट, हैण्डलूम, पावरलूम, अगरबत्ती, बीड़ी, खेती और उससे सम्बन्धित पेशे, ईंट, रबर, चाय और कॉफ़ी शामिल हैं जिनके 10 लाख से अधिक मज़दूरों को मौजूदा वेतन वृद्धि से बाहर रखा गया है। कर्नाटक में आख़िरी वेतन वृद्धि 2023 में हुई थी जो केवल 34 उद्योगों के मज़दूरों के लिए थी जबकि राज्य की अधिकांश मज़दूर आबादी के लिए आख़िरी वेतन वृद्धि 2017 में हुई थी। कर्नाटक में पिछले एक दशक में यह केवल चौथी बार है जब न्यूनतम वेतन बढ़ाया गया है हालाँकि क़ायदे से सरकार को बढ़ती महँगाई दर के अनुसार हर वर्ष ही वेतन-वृद्धि करनी चाहिए। तेलंगाना में तो पिछले 12 साल से न्यूनतम वेतन में वृद्धि ही नहीं हुई थी।

दूसरी और कहीं ज़्यादा अहम बात यह है कि इन दोनों राज्यों में हालिया वेतन-वृद्धि वास्तविकता में कितनी लागू होगी यह अभी देखना होगा। क्योंकि काग़ज़ों पर दिखाये जाने वाले वेतन और मज़दूरों के हाथ में पहुँचने वाले वेतन में कम-से-कम सभी असंगठित क्षेत्र के मज़दूरों के मामले में ज़मीन-आसमान का अन्तर होता है। श्रम-मन्त्रालय के ई-श्रम पोर्टल के आँकड़ों के अनुसार भारत में 94.11 फ़ीसदी अनौपचारिक क्षेत्र के मज़दूरों की मज़दूरी 10 हज़ार रुपये से भी कम है जबकि काग़ज़ों पर न्यूनतम वेतन लगातार बढ़ता रहा है। वैसे अब तो मोदी सरकार ने चार लेबर कोड लागू कर काग़ज़ों पर भी श्रम अधिकारों को लागू करने की बाध्यता को लगभग ख़त्म कर दिया है। मोदी सरकार ने न्यूनतम वेतन सम्बन्धी 'झंझट' को ख़त्म करने के लिए प्रतिदिन के लिए राष्ट्रीय तल-स्तरीय मज़दूरी यानी नेशनल फ़्लोर लेवल मज़दूरी को रु. 178 करने की घोषणा की है जो कि महीने में पाँच हज़ार रुपये से कम बनती है। दूसरा, वेतन-वृद्धि को लागू करवाने वाली पहले ही पंगु संस्था श्रम विभाग को मोदी सरकार ने लेबर कोड के ज़रिये हटाकर ट्रिब्युनल बनाने की घोषणा की है जो केवल नाममात्र की संस्था होगी और इसमें काग़ज़ी वृद्धि को फैक्ट्रियों में लागू करवाने की क्षमता नहीं होगी।

अब पूँजीपति वर्ग की जैसी फ़ितरत होती है उसके अनुसार कर्नाटक और तेलंगाना के पूँजीपति इसे ख़ुद स्वेच्छा से तो लागू करने से रहे। बल्कि उन्हें तो इस काग़ज़ी वृद्धि से भी तक़लीफ़ हो रही है। कर्नाटक में पूँजीपतियों के संघ और कुछ कम्पनियों ने हाई कोर्ट में इस वेतन-वृद्धि को चुनौती तक दे दी है। मालिकों द्वारा इस मसले पर काफ़ी चिल्ल-पों मचायी जा रही है कि वे मज़दूरी पर काफ़ी ख़र्च करते हैं। हम मज़दूर अच्छी तरह से जानते हैं कि यह सरासर झूठ है। असल में मज़दूरी पर पूँजीपतियों का निवेश उनके कुल पूँजी निवेश के अनुपात में साल-दर-साल घटता गया है। भारतीय अर्थव्यवस्था और पूँजीपति जिस आर्थिक संकट के भँवर में फँसे हैं उसका सारा बोझ वे मज़दूरों पर ही डाल देना चाहते हैं और उन्हें सरकारों द्वारा काग़ज़ों पर भी किसी भी क़िस्म की वेतन-वृद्धि नागवार गुज़रती है। हम इसपर आगे चर्चा करेंगे लेकिन पहले उस वेतन-बढ़ोत्तरी पर बात कर लेते हैं जिसे लेकर पूँजीपति इतना विचलित हो रहे हैं।

कर्नाटक ने मई 2026 में जो वेतन वृद्धि की है उसके अनुसार कर्नाटक को तीन क्षेत्रों में बाँटा गया है। इन क्षेत्रों में कर्नाटक सरकार की नयी घोषणा के अनुसार बंगलुरु, अन्य शहरों व ज़िला मुख्यालयों में व अन्य क्षेत्रों में एक अकुशल मज़दूर का वेतन क्रमश: ₹23,376, ₹21,251 व ₹19,319 होगा; अर्द्धकुशल मज़दूर का वेतन ₹25,714, ₹23,376 व ₹21,251.30 तथा कुशल मज़दूर का वेतन ₹28,285, ₹25,714 व ₹23,376 होगा। तेलंगाना में नयी वेतन दर की घोषणा के अनुसार नगर निगम, नगर पालिका व ग्रामीण क्षेत्रों में अकुशल मज़दूर को क्रमश: ₹16,000, ₹15,000 व ₹14,000 मज़दूरी मिलेगी; अर्द्धकुशल मज़दूर को क्रमश: ₹17,000, ₹16,000 व ₹15,000 तथा कुशल मज़दूर को ₹18,500, ₹17,500 व ₹16,500 मिलेंगे।

यह बढ़ोत्तरी आज की महँगाई की तुलना में क़तई नाकाफ़ी है। यह बात हर उस व्यक्ति को स्पष्ट तौर पर पता होगी जो आज मेहनत-मशक़्क़त कर अपनी गुज़र-बसर कर रहा है या जो मेहनतकश आबादी के जीवन से वास्ता रखता हो। राशन, कपड़ा, यातायात आदि की क़ीमतें, गैस, खाद तथा पेट्रोल-डीज़ल की बढ़ी क़ीमतों के कारण आसमान छू रही हैं। थोक महँगाई मई 2026 में अप्रैल 2025 की 8.26 प्रतिशत से छलाँग लगाकर 9.68 प्रतिशत हो गयी। इसका असर खुदरा महँगाई में बढ़ोत्तरी में आना तय है। ईरान पर अमेरिका-इज़रायल धुरी द्वारा थोपे साम्राज्यवादी युद्ध और भारत सरकार की विचित्र विदेश नीति के चलते यह संकट और ज़्यादा गहराया है। हाल में रसोई गैस के संकट में ग़रीबों के जीवन के दुख-तकलीफ़ सड़कों पर हड़ताल आन्दोलन के लावे के रूप में बह निकले। ईरान पर अमेरिका-इज़रायल द्वारा थोपा युद्ध फ़िलहाल थम गया है लेकिन आपूर्ति-श्रृंखलाएँ जिस क़दर प्रभावित हुई हैं फ़िलहाल यह कहा जा सकता है कि वैश्विक अर्थव्यवस्था और ख़ास तौर पर भारतीय अर्थव्यवस्था को सम्भलने में लम्बा वक़्त लगेगा। मई में खाद्य महँगाई दर 4.8% तक पहुँच गयी है और आम महँगाई दर 3.93% हो गयी है। इस कमरतोड़ महँगाई में कर्नाटक और तेलंगाना सरकार द्वारा की घोषित वेतन अगर मज़दूरों को मिल जाए तब भी यह नाकाफ़ी है।

अन्तरराष्ट्रीय श्रम संगठन (आईएलओ) ने न्यूनतम मज़दूरी के लिए जीवनयापन-योग्य मज़दूरी की अपनी परिभाषा प्रस्तावित की है। मज़दूर परिवार के खाद्य वस्तुओं, आवास, स्वास्थ्य, बच्चों की शिक्षा, यातायात, कपड़े, आपातकाल व अन्य उपयोगिताओं पर तात्कालिक महँगाई के दर के अनुसार ख़र्च जोड़कर उसे प्रति परिवार मज़दूर संख्या से विभाजित कर इसकी गणना की जाती है। अंकेर शोध संस्थान ने 2025 में आईएलओ के उपरोक्त दिशा-निर्देशों के अनुसार भारत के तमाम राज्यों में जीवनयापन योग्य मज़दूरी की गणना की है। हालाँकि यह शोध एक साल पुराना है व इस शोध में कई ख़र्चों की गणना सटीक प्रतीत नहीं होती है क्योंकि कई जगह ख़र्च को कम करके आँका गया है। फ़िलहाल हम इस शोध के आँकड़ों को ही लेकर यह दिखाने का प्रयास करेंगे कि ख़ुद बुर्जुआ मानकों के अनुसार भी कर्नाटक और तेलंगाना सरकार की वेतन वृद्धि नाकाफ़ी है।

अंकेर शोध संस्थान के अनुसार कर्नाटक के बंगलुरु शहर में महँगाई की दर की रोशनी में जीवनयापन योग्य मज़दूरी 2025 में ₹25,246, अन्य शहरों में ₹22,522 और ग्रामीण क्षेत्रों के लिए क़रीब ₹20,000 होनी चाहिए। हमने ऊपर ही देखा कि वेतन बढ़ोत्तरी के बाद बैंगलोर में एक अकुशल मज़दूर का वेतन है ₹23,376, अन्य शहरों व ज़िला हेडक्वार्टर में ₹21,251 और अन्य इलाक़ों में ₹19,319.36। तीनों क्षेत्रों में अकुशल मज़दूर के लिए यह बढ़ोत्तरी कम है। काग़ज़ पर अर्द्धकुशल और कुशल मज़दूर का नया वेतन अंकेर शोध संस्थान की गणना पर खरा उतरता है। अब यही तुलना करते हुए हम तेलंगाना की नयी वेतन दर को देख सकते हैं। तेलंगाना में 2025 की महँगाई की दर के अनुसार अंकेर शोध संस्थान के अनुसार हैदराबाद में ₹24,890 होना चाहिए था, अन्य शहरों में ₹22,522 और ग्रामीण क्षेत्रों के लिए क़रीब ₹17,000 होना चाहिए। तेलंगाना में नवीनतम काग़ज़ी वेतन इस प्रकार हैं : म्युनिसिपल कॉरपोरेशन ज़ोन में अकुशल मज़दूर को ₹16,000, मुन्सिपैलिटी ज़ोन में ₹15,000 और ग्रामीण क्षेत्रों के ज़ोन में ₹14,000। कुशल और अर्द्धकुशल मज़दूरों का वेतन भी इस पैमाने पर खरा नहीं उतरता है। अंकेर शोध संस्थान के एक साल पुराने जीवनयानप योग्य मज़दूरी के प्रस्ताव से भी कर्नाटक और हैदराबाद में अधिकतम मज़दूरों का नवीनतम वेतन कम है।

यह भी हम जीवनयापन योग्य मज़दूरी की बात कर रहे हैं जिसे आईएलओ प्रस्तावित करता है जिसकी अंकेर शोध संस्थान द्वारा 2025 की महँगाई दर के अनुसार गणना की गयी है। जैसा हमने ऊपर कहा कि ये गणनाएँ सटीक नहीं प्रतीत होती हैं और इसमें ख़र्चों को कम करके आँका गया है। दूसरी बात यह कि ग्रामीण और शहरी मज़दूरों के लिए एक समान न्यूनतम वेतन तय होना चाहिए जो उपरोक्त शोध प्रस्तावित नहीं करता है। वास्तव में महँगाई को देखते हुए आज ग्रामीण और शहरी मज़दूरों का वेतन कम से कम ₹30,000 होना ही चाहिए और कर्नाटक और तेलंगाना में हुई वृद्धि इस मामले में काफ़ी पीछे है।

यह वेतन वृद्धि भी कांग्रेस की सरकारों ने किसी भलमनसाहत से नहीं बल्कि इन राज्यों में सम्भावित मज़दूर आन्दोलन की लहर से घबराकर की है क्योंकि सतह के नीचे इन दोनों राज्यों में भी मज़दूरों का गुस्सा और उनकी नाराज़गी पनप रही थी। कर्नाटक में पूँजीपति इसका कड़ा विरोध करने में लगे हैं। उनके अनुसार मज़दूरी पर वे पहले ही बेहद अधिक "ख़र्चा" कर रहे हैं और इसे और बढ़ाना सरासर अन्याय है! जैसा कि हमने ऊपर बताया, यह कोरा झूठ है। असलियत यह है कि पूँजीपतियों द्वारा मज़दूरी पर होने वाला निवेश लगातार ही घटाया गया है और पूँजीपति इसे और भी कम कर देना चाहते हैं। पहली बात तो यह है कि पूँजीपति मज़दूरी पर "ख़र्चा" नहीं बल्कि निवेश करते हैं, जो मज़दूरों के श्रम से पैदा मुनाफ़े के साथ उनके पास वापस आ जाता है। मालिक का मुनाफ़ा मज़दूर के शोषण के ज़रिये हासिल होता है। मज़दूरी और कुछ नहीं बल्कि एक मज़दूर की श्रमशक्ति की क़ीमत होती है और एक मज़दूर श्रमकाल के एक हिस्से से अपनी मज़दूरी के बराबर मूल्य पैदा करता है तो बाक़ी हिस्सा मालिक बेशी-मूल्य के रूप में हड़पता है। यही उसके मुनाफ़े का आधार होता है। मालिक हर-हमेशा कोशिश करता है कि मज़दूरी कम की जाये ताकि मुनाफ़ा और उसकी दर को बढ़ाया जा सके।

(पेज 12 पर जारी)

दशक	कपड़ा (कुल ख़र्च में मज़दूरी का हिस्सा, % में)	खाद्य प्रसंस्करण	धातु उद्योग और फ़ैब्रिकेशन	कैमिकल और पेट्रो-कैमिकल	ऑटो पार्ट्स	इलैक्ट्रोनिक	फ़ार्मा-स्युटिकल्स
1950-1959	30–45	28–42%	25–40%	20–35%	20–35%	10–25%	15–30%
1970-1979	28–42%	24–38%	22–36%	16–32%	15–30%	12–24%	14–28%
1990-1999	22–36%	20–34%	18–32%	10–22%	10–22%	10–22%	10–22%
2000-2009	18–32%	16–30%	12–24%	8–18%	8–16%	8–16%	8–16%
2010-2019	14–26%	14–26%	10–18%	6–12%	6–12%	6–12%	6–12%

तालिका - 1

स्रोत: एएसआई, आरबीआई और सेन्सस।

(नोट: गणना प्रवृत्ति को दिखाने के लिए है। एएसआई, आरबीआई और सेन्सस के आँकड़ों का इस्तेमाल कर एआई (डकडकगो) के माध्यम द्वारा आँकड़ों की गणना की गयी है। 1973 से पहले, मैसूर स्टेट का नाम कर्नाटक राज्य पड़ने से पहले, उस भौगोलिक इलाक़े के आँकड़ों का इस्तेमाल किया गया है जो आज कर्नाटक राज्य को बनाते हैं।)

फ़ासीवादी सत्ता के डर और प्रलोभन के जाल में लगातार फँसते बुर्जुआ विपक्षी पार्टियों के नेता

तृणमूल काँग्रेस (टीएमसी) में मची भगदड़ के मायने

● शिशिर, आशीष

पश्चिम बंगाल के हालिया विधानसभा चुनाव में ममता बनर्जी की तृणमूल कांग्रेस (टीएमसी) को भाजपा ने क़रारी शिक़स्त दी। इस चुनावी हार के बाद टीएमसी में जारी टूट-फूट पर बात करने से पहले प. बंगाल के विधानसभा चुनाव पर थोड़ी चर्चा कर लेते हैं। प. बंगाल के चुनाव परिणाम में 294 विधानसभा सीटों में भाजपा को 207 सीटें और टीएमसी को केवल 80 सीटें मिली। कई विशेषज्ञ भाजपा की इस प्रचण्ड जीत के पीछे केन्द्रीय चुनाव आयोग (केंचुआ) की पक्षपातपूर्ण भूमिका और अदालतों की उदासीनता को ज़िम्मेदार मानते हैं, जिसमें निश्चित ही सच्चाई है, जैसा कि विधानसभा चुनाव से ठीक पहले केंचुआ ने विशेष सघन पुनरीक्षण (एसआईआर) के नाम पर मनमाने तरीक़े से 27 लाख लोगों के नामों को मतदाता सूची से बाहर कर दिया। कई सीटों में भाजपा की जीत का अन्तर एसआईआर के तहत मतदाता सूची से हटाये गये मतदाताओं की संख्या से कम है, जिससे यह स्पष्ट संकेत मिलता है कि इसके बिना भाजपा के लिए प. बंगाल चुनावों में बहुमत प्राप्त करना लगभगत असम्भव था।

इस दौरान एसआईआर के अलावा भी कई ऐसे तथ्य सामने आये जो केंचुआ के निष्पक्षता पर गहरे सवाल उठाते हैं। सूबे में सत्ताप्राप्ति के लिए भाजपा के नेताओं ने बंगाल की विचारणीय मुस्लिम आबादी को बांग्लादेशी घुसपैठियों के रूप में प्रस्तुत करके उनके ख़िलाफ़ बेहिसाब साम्प्रदायिक ज़हर फैलाया, जिसकी बदौलत वे साम्प्रदायिक ध्रुवीकरण करने में काफ़ी हद तक कामयाब रहे। इसके अलावा, भाजपा के पीछे देश के पूँजीपति वर्ग की अकूत धनशक्ति भी खड़ी है, जो पूँजीवादी चुनावों में हमेशा ही बहुत-सी चीज़ों का फ़ैसला कर देती है। यह बात आज सबको पता है कि वर्तमान समय में चुनावी चन्दा हासिल करने में भाजपा को कोई भी पार्टी टक्कर नहीं दे सकती। इन्हीं चन्दों के बदौलत बंगाल के चुनाव में भाजपा ने धनबल का भरपूर इस्तेमाल किया। इन सबके अलावा, ममता बनर्जी के 15 वर्ष के मुख्यमन्त्रित्व काल में हुए ज़बर्दस्त भ्रष्टाचार और निहायत ही निरंकुश व तानाशाहाना प्रशासन तथा टीएमसी के नेताओं की गुण्डागर्दी के प्रति लोगों का गुस्सा, टीएमसी की हार के पीछे की एक महत्वपूर्ण वजह रही।

मगर सिलसिला तृणमूल की हार पर ही ख़त्म नहीं हुआ। चुनावों के नतीजे आने व नयी सरकार के बनने के बाद से तृणमूल कांग्रेस की दिक़्क़तें ख़त्म होने का नाम नहीं ले रही हैं, बल्कि इस समय वह अस्तित्व के संकट से जूझ रही है। असल में फ़ासीवादी भाजपा के सत्तासीन होते ही अर्ध-फ़ासीवादी तृणमूल कांग्रेस का ताश के पत्तों की तरह भरभराकर ढहना अप्रत्याशित नहीं, स्वाभाविक परिघटना है। आगे हम इसके ढाँचागत कारणों पर विचार करेंगे।

बहरहाल, अब भाजपा ने टीएमसी को मात देकर पश्चिम बंगाल की सत्ता पर क़ब्ज़ा कर लिया है। खेतों में सिंचाई के दौरान जैसे चूहे बिलबिलाकर अपने बिल से बाहर भागते हैं ठीक वैसी ही दशा टीएमसी के नेताओं की है। विधानसभा चुनाव में मिली हार के चन्द दिनों बाद ही टीएमसी में भगदड़ मचने लगी। ऋतुब्रत बनर्जी के नेतृत्व में टीएमसी के अधिकांश विधायक बाग़ी हो गये। इस घटना को लेकर कई लोगों का मानना है कि बीजेपी ने बंगाल में पक्ष के साथ-साथ अपने हिसाब से विपक्ष का प्रबन्ध भी कर लिया। विधानसभा में लगे झटके से टीएमसी अभी उबर भी नहीं पायी थी कि लोकसभा के 28 में से 20 सांसदों ने बग़ावत कर दी। बाग़ी सांसदों की मीटिंग भाजपा के केन्द्रीय मन्त्री भूपेन्द्र यादव के सरकारी आवास पर हुई, इससे सीधा स्पष्ट होता है कि टीएमसी सांसदों के टूट के पीछे भाजपा का ही हाथ था। विधानसभा चुनावों तक तृणमूल के राज्यसभा में 13 सांसद थे, जिनमें से तीन अब तक इस्तीफ़ा दे चुके हैं और आगे भी इस तादाद के बढ़ते जाने की पूरी सम्भावना है।

इस बार के विधानसभा चुनावों में तृणमूल के टिकट पर कुल 80 विधायक जीतकर आये थे, उनमें से 58 विधायक ऋतुब्रत बनर्जी की अगुवाई में तृणमूल से अलग हो चुके हैं और भाजपा की मिलीभगत से नेता विपक्ष की कुर्सी हथियाते हुए तृणमूल कांग्रेस की हालत लचर बना दी है। बाग़ी सांसदों के गुट ने भाजपा के नेतृत्व वाली एनडीए सरकार को समर्थन देने की घोषणा की है। यह तथ्य भी इस टूट के पीछे भाजपा की भूमिका को पुष्ट करते हैं। भाजपा को इस कृत्य के दोष से बचाने और एण्टी डिफ़ेक्शन लॉ यानी दलबदल विरोधी क़ानून से बचाने के लिए बाग़ी सांसदों ने नेशनल सिटीज़न्स पार्टी ऑफ़ इण्डिया (एनसीपीआई) नामक एक पार्टी में विलय की घोषणा कर दी। इसी बीच राज्यसभा में टीएमसी के तीन सांसदों ने पार्टी और राज्यसभा से इस्तीफ़ा दे दिया। लोकसभा में टीएमसी के बाग़ी सांसदों में भारतीय लिबरल तबके की चहेती, भाजपा को पानी पी पीकर कोसने वाली और बंगाल विधानसभा के चुनाव में टीएमसी की पोस्टर गर्ल सायोनी घोष भी शामिल है।

टीएमसी की दुर्गति पर मध्य वर्ग का एक हिस्सा मानो मूर्छित ही हो गया हो! मुख्यधारा में आ रही ख़बरों के मुताबिक़, कई लोग इसे पाला बदल रहे नेताओं की ग़द्दारी या मौक़ापरस्ती क़रार दे रहे हैं। कुछ लोगों का कहना है कि ये नेता भाजपा के द्वारा निशाना बनाये जाने से बचने के लिए ऐसा कर रहे हैं। कुछ अन्य ने इसकी यह भी व्याख्या की है तृणमूल महज़ ममता के व्यक्तित्व के इर्द-गिर्द सिमटा दल है जिसमें लोग महज़ सत्ता से क़रीबी के लिए साथ में थे। वहीं कुछ दूसरे इसे अभिषेक बनर्जी के निहायत ही तानाशाही रवैये का नतीजा मान रहे हैं और उनके द्वारा नेताओं को दरकिनार करके IPAC नामक संस्था की मदद से कम्प्यूटर-आधारित डेटा विश्लेषण के हिसाब से काम करने की कार्यपद्धति को ज़िम्मेदार मान रहे हैं। इनमें से कुछ बातें आंशिक रूप से सच हो सकती हैं। लेकिन ये इस परिघटना की सम्पूर्ण तस्वीर सामने नहीं लातीं और जो दिख रहा है उसे ही सारभूत सच मान लेने वाला सतही विश्लेषण पेश करती हैं। सर्वहारा दृष्टिकोण से देखा जाये तो यही कहा जा सकता है कि टीएमसी

भी पूँजीवादी शासक वर्ग की एक पार्टी है जो मुख्यतः प. बंगाल के स्थानीय पूँजीपतियों और धनी किसानों का प्रतिनिधित्व करती है और यह स्वयं कोई उदारपंथी पूँजीवादी दल नहीं है, बल्कि एक दक्षिणपंथी सर्वसत्तावादी पूँजीवादी दल है। इसके अलावा अडानी और कुछ बड़े पूँजीपति घरानों से भी टीएमसी नेताओं के मधुर सम्बन्ध हैं। इसे समझने के लिए हमें शुरुआत करनी होगी तृणमूल कांग्रेस के इतिहास से।

संशोधनवादी माकपा के द्वारा नवउदारवादी नीतियों को पश्चिम बंगाल में लागू करने की कोशिशों के तहत नन्दीग्राम-सिंगूर में ग़रीब किसानों की ज़मीन छीने जाने की घटना माकपा के कुकर्मों के लम्बे इतिहास के ख़िलाफ़ जनता के गुस्से का फ़्लैश पॉइण्ट बनी और ममता बनर्जी ने मौक़े का फ़ायदा उठाते हुए अपने आप को माकपा के विकल्प के रूप में पेश किया और 2011 के विधानसभा चुनावों में तृणमूल ने भारी तादाद में सीटें हासिल करते हुए जीत दर्ज की। इससे पहले, 1990 के दशक के उत्तरार्द्ध में जब राष्ट्रीय स्तर पर जनता में कांग्रेस की उदारीकरण-निजीकरण-वैश्वीकरण की नीतियों, नरसिंह राव की सरकार के दौरान हुए हवाला घोटाले और हर्षद मेहता घोटाले जैसे तमाम घोटालों, फ़ासीवादी ताक़तों के द्वारा बाबरी मस्जिद ढहाये जाने के दौरान व उपरान्त राव सरकार की अकर्मण्यता इत्यादि के ख़िलाफ़ गुस्सा भरा हुआ था, और जब ऐसे में अपने प्रान्तीय हितों के बरक्स पूँजीवादी राष्ट्रीय हितों को प्राथमिकता देते हुए अपनी सक्रिय राजनीतिक प्रासंगिकता को बरक़रार रखने के लिए कांग्रेस पार्टी केन्द्र में संसदीय वाम दलों की भागीदारी वाली संयुक्त मोर्चे की सरकारों को बाहर से समर्थन दे रही थी और जिसके चलते पश्चिम बंगाल के अन्दर वाम मोर्चा की सरकार के ख़िलाफ़ उसके स्वर कुछ नरम पड़े थे; उस दौर में संशोधनवादी वाम मोर्चा की सरकार के ख़िलाफ़ बुर्जुआ दायरे के भीतर विरोध का निर्वात पैदा हुआ। ठीक ऐसे सन्दर्भ में 1997 में ममता बनर्जी ने कांग्रेस से अलग होकर तृणमूल कांग्रेस की स्थापना कर उसी निर्वात को भरने का काम किया था। इससे तृणमूल न सिर्फ़ ख़ुद को प्रान्तीय स्तर पर वाम मोर्चे की सरकार के ख़िलाफ़ एक सम्भावित विकल्प के रूप में पेश करने में कामयाब रही, बल्कि राष्ट्रीय स्तर पर भी कांग्रेस-विरोधी भावना का फ़ायदा उठाने के लिए उसने भाजपा-नीत गठबन्धन का दामन थामा और अपने इस क़दम के साथ साम्प्रदायिक फ़ासीवादी भाजपा के लिए पश्चिम बंगाल में पहली बार विधान सभा और लोकसभा सीटें जीतने का मार्ग प्रशस्त किया।

1990 के दशक के उत्तरार्ध में पूँजीवाद का आर्थिक संकट साफ़ तौर पर भारतीय राज्यसत्ता के लिए एक राजनीतिक संकट की शक्ल अख़्तियार कर चुका था और 1996 से लेकर 1998 के बीच केन्द्र में कई बार गठबन्धन सरकारों का बनना और बिगड़ना इसी बात को ज़ाहिर करता है। ऐसे में भारत के बुर्जुआ वर्ग ने अपने दीर्घकालिक राजनीतिक हितों के सामूहिकीकरण के लिए फ़ासीवादी भाजपा को बार-बार मौक़ा दिया और आख़िरकार 1999 के कारगिल युद्ध की पृष्ठभूमि में अन्ध-राष्ट्रवाद की लहर चलाकर फ़ासीवादी भाजपा-नीत गठबन्धन लोकसभा चुनावों में निर्णायक जीत दर्ज करने में कामयाब रहा। मगर सत्ता में आने के दो सालों के अन्दर ही स्वयम्भू-राष्ट्रवादी राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के कार्यकर्ता और भाजपा के राष्ट्रीय अध्यक्ष बंगारू लक्ष्मण एक स्टिंग ऑपरेशन के दौरान कैमरे पर एक रक्षा सौदे में रिश्वत लेते हुए पकड़े गये, भाजपा के एक सहयोगी दल से आने वाले जॉर्ज फ़र्नांडीज़ का ताबूत घोटाले में नाम सामने आया और भाजपा के द्वारा कांग्रेस से भी ज़्यादा तेज़ी से लागू की गयी उदारीकरण-निजीकरण-वैश्वीकरण की नीतियों के चलते जनता के अच्छे-ख़ासे हिस्से में असंतोष फैला। इसी साल, यानी, सन 2001 में तृणमूल कांग्रेस पश्चिम बंगाल में अपना पहला विधान सभा चुनाव लड़ने जा रही थी। जनता का मिज़ाज भाँपते हुए ममता बनर्जी ने राजग गठबन्धन से अलग होकर बंगाल में वाम मोर्चे के ख़िलाफ़ कांग्रेस के साथ गठबन्धन किया।

इस रणकौशलात्मक चाल से तृणमूल वाम मोर्चे को हरा तो नहीं सकी, लेकिन बंगाल में वाम मोर्चे के ख़िलाफ़ निर्णायक रूप से मुख्य विरोधी दल के रूप में उभरी और चुनावों के तीन महीने के बाद ही भाजपा के ख़िलाफ़ घोटालों की चर्चा में कुछ कमी आते ही ममता बनर्जी ने एक बार फिर से केन्द्र सरकार में सत्ता की मलाई चाटने के लिए भाजपा और तृणमूल कांग्रेस को "स्वाभाविक सहयोगी" क़रार दिया और उसी साल आगे चलकर दोबारा राजग गठबन्धन का हिस्सा बनीं। आगे चलकर, 2004 के लोकसभा चुनावों में और 2006 के पश्चिम बंगाल विधानसभा चुनावों में राजग गठबन्धन की क़रारी हार के बाद तृणमूल कांग्रेस, भाजपा पर तृणमूल को मुस्लिम वोटबैंक से दूर करने की तोहमत लगाते हुए राजग से अलग हो गयी और बंगाल की जनता की निगाह में, ख़ासकर चुनावी हिसाब-किताब के हिसाब से अहम वहाँ की 25% अल्पसंख्यक आबादी की निगाह में ख़ुद को वाम मोर्चे के ख़िलाफ़ एक सच्चे धर्मनिरपेक्ष विरोधी दल के रूप में पेश करने की कोशिश की।

भारत में जो तमाम ग़ैर-फ़ासीवादी बुर्जुआ दल हैं उनकी "धर्मनिरपेक्षता" में मुसलमान आबादी महज़ एक वोटबैंक तक ही सीमित है। धर्म को राजनीति और राजकीय मामलों से पूरी तरह अलग रखकर सही मायने में वैज्ञानिक धर्मनिरपेक्षता की जगह, "सर्वधर्म समभाव" के गाँधीवादी आदर्श-सूत्र के रूप में धर्मनिरपेक्षता के एक भौण्डे व छद्म संस्करण की परम्परा का यही हश्र होना था। "सर्वधर्म समभाव" का अर्थ है सभी धर्मों के प्रति समान भाव, यानी सभी को समान राजकीय संरक्षण। भारत जोकि एक पूँजीवादी मुल्क है, उसमें इस तरह की नीति का परिणाम अन्ततोगत्वा इसी रूप में आ सकता था कि तथाकथित धर्मनिरपेक्ष दल सभी धर्मों के कट्टरपंथियों को समान रूप से संरक्षण देते हैं और ऐसी स्थिति में फ़ासीवादी भाजपा हिन्दुओं की बहुसंख्या को आधार बनाते हुए इस "समान संरक्षण" को "धर्मनिरपेक्ष" दलों की एक साज़िश क़रार देती है और समाज

(अगले पेज पर जारी)

तृणमूल काँग्रेस (टीएमसी) में मची भगदड़ के मायने

(पिछले पेज से आगे)

में साम्प्रदायिक बहुसंख्यावाद का ज़हर बोती है। राजीव गाँधी की कांग्रेस सरकार के द्वारा अल्पसंख्यक कठमुल्लावादी ताक़तों को शह देने के इरादे से शाहबानो मामले में संसद में बहुमत का दुरुपयोग करते हुए उच्चतम न्यायालय का सही फैसला पलटना और उसके बाद हिन्दुत्ववादी साम्प्रदायिक फ़ासीवादी प्रचार का प्रति-सन्तुलन करने के नाम अयोध्या में बाबरी मस्जिद स्थल पर राम मन्दिर का ताला खोलकर बहुसंख्यक आबादी से आने वाली कठमुल्लावादी ताक़तों को सहयोजित करना, आदि धर्मनिरपेक्षता के भारतीय संस्करण की स्वाभाविक परिणति थी जिसका फ़ायदा अन्ततः फ़ासीवादी ताक़तों को ही मिला, जैसा कि इतिहास ने साबित किया है। पूँजीवादी चुनावी गणित में जोड़-तोड़ की राजनीति में ज़ोरआज़माइश के लिए स्वाभाविक ही तृणमूल कांग्रेस ने भी इस छद्म-धर्मनिरपेक्षता को ही आगे बढ़ाया। इमामों और मुअज़्ज़िनों को मासिक वेतन देना हो या पुरोहितों को मासिक नगद मानदेय व मुफ़्त में घर देने की बात हो, तृणमूल कांग्रेस ने अपनी चुनावी गणित के हिसाब से हमेशा छद्म-धर्मनिरपेक्षता का ही अनुसरण किया।

सामाजिक फ़ासीवादी माकपा को टक्कर देने के लिए तृणमूल कांग्रेस ने जहाँ एक तरफ़ सिंगूर-नन्दीग्राम जैसे ज़मीनी आन्दोलनों को हथियार बनाते हुए माकपा के लम्बे शासनकाल के कुकर्मों के ख़िलाफ़ फैले रोष को सहयोजित किया, वहीं दूसरी ओर स्थानीय दबंगों, माफ़ियानों-सरगनाओं, क्लब-नेताओं का तन्त्र तैयार किया, सत्ता में आने के बाद राज्य के पारा (मुहल्ला) क्लबों को सीधे राज्य फ़ण्डिंग उपलब्ध करवाई, माकपा की ज़मीनी कैडर के अच्छे-ख़ासे हिस्से को तृणमूल में शामिल किया, माकपा के हार्माद के नाम से बदनाम हथियारबन्द गुण्डों के दस्ते ज्यों के त्यों सहयोजित किये, बहुत बड़े पैमाने पर बूथ-स्तर के एजेण्ट तैयार किये। कुल मिलाकर, एक जनवाद-रिक्त काडर-ढाँचा खड़ा करने का प्रयास किया गया। मगर इस काडर को एकीकृत करने के पीछे राज्य-संरक्षण था, कोई विचारधारा नहीं, जैसा कि फ़ासीवादी काडर-आधारित पार्टियों में होता है। इसलिए जैसे ही तृणमूल हारी, और राजकीय संरक्षण ख़त्म हुआ, तृणमूल की दुकान चलाने वाले तमाम लोगों ने रातों-रात भाजपा की शरण ली।

असल में, तृणमूल का इस तरह भरभराकर गिरना कहीं से भी अप्रत्याशित नहीं है। फ़ासीवादी भाजपा के उलट, तृणमूल कांग्रेस के काडर किसी विचारधारा पर साथ नहीं आये थे। ऐसे में, किसी वास्तविक फ़ासीवादी दल की मौजूदगी में तृणमूल और शिवसेना जैसे अर्ध-फ़ासीवादी या सर्वसत्तावादी दक्षिणपन्थी और अधिनायकवादी दलों का बर्बाद होना स्वाभाविक है। साम्प्रदायिकता को टक्कर सच्ची वैज्ञानिक धर्मनिरपेक्षता के आधार पर ही दिया जा सकता है। छद्म-धर्मनिरपेक्षता से फ़ासीवादी साम्प्रदायिकता के उभार में ही मदद मिलती है, और अतीत के कई अन्य उदाहरणों के समान पश्चिम बंगाल में भी ठीक यही हुआ।

इसके अलावा, पूँजीवाद के गहराते संकट के दौर में बुर्जुआ वर्ग के पास उपलब्ध विकल्पों में अगर फ़ासीवादी और विभिन्न अर्ध-फ़ासीवादी, धुर-दक्षिणपंथी व सर्वसत्तावादी दल विकल्प के तौर पर मौजूद हों, और अगर उस समय उक्त फ़ासीवादी दल अपनी सांगठनिक दशा और राजनीतिक पहुँच के हिसाब से अन्य सभी दलों को टक्कर देने और पिछाड़ने के लिए तैयार हो, तो ऐसे में बुर्जुआ वर्ग के द्वारा उस फ़ासीवादी दल को ही प्राथमिकता से चुने जाने की प्रबल सम्भावना होती है। ऐसा इसलिए भी होता है कि प्रतिरोध के डर से और लोकप्रियता गिरने के डर से तृणमूल जैसा अर्ध-फ़ासीवादी दल जो नहीं कर सकता था, उसे फ़ासीवादी संघ परिवार नंगे तौर पर कर सकता है। इसकी एक बानगी तब मिली जब भाजपा ने बड़ी पूँजी के फ़ायदे के लिए बंगाल का चुनाव जीतकर आते ही जगह-जगह रेहड़ी-खोमचे वालों या छोटा-मोटा कोई और काम करने वालों की दुकानों पर बुल्जडोज़र चलवाया और भाजपा मुख्यमन्त्री सुवेन्दु ने ऐलान कर दिया कि वह टाटा को प. बंगाल वापस लायेंगे!

भाजपा ने प. बंगाल में टीएमसी के साथ जो किया वह कोई अप्रत्याशित घटना नहीं है। ऐसा वह पहले भी करती रही है। भाजपा के ऐसे जनवाद विरोधी कुकर्म को गोदी मीडिया हमेशा "ऑपरेशन लोटस" जैसे लच्छेदार शब्दों की चाशनी में परोसकर पेश करता रहा है। पिछले दिनों भाजपा ने आम आदमी पार्टी के 10 राज्यसभा सांसदों में 7 को तोड़कर अपने दल में शामिल कर लिया। आप के इन 7 बाग़ी सांसदों में से कइयों के यहाँ ईडी का छापा पड़ा था। ईडी के छापे के बाद सभी भाजपा में शामिल हो गये। 2022 में भाजपा ने शिवसेना के सांसदों और विधायकों को तोड़कर अपने खेमे में मिला लिया था। इस टूट के बाद महाराष्ट्र में उद्धव ठाकरे को मुख्यमन्त्री पद से इस्तीफ़ा देना पड़ा था और सत्ता भी उसके हाथ से चली गयी थी। इस घटना के बाद उद्धव ठाकरे की जगह बाग़ी गुट के नेता एकनाथ शिंदे का सत्ता और शिवसेना के सिम्बल पर क़ब्ज़ा हो गया। कुछ मीडिया रिपोर्ट के मुताबिक आजकल एक बार फिर से उद्धव ठाकरे की पार्टी शिवसेना (यूबीटी) के सांसदों को तोड़ने की क़वायद चल रही है, जो फ़िलहाल कामयाब होती ही दिख रही है। 2023 में महाराष्ट्र में ही शरद पवार की राष्ट्रवादी कांग्रेस पार्टी में उनके भतीजे अजित पवार के नेतृत्व में टूट हुई। इस टूट के बाद अजित पवार तत्कालीन भाजपा गठबन्धन की सरकार में उपमुख्यमन्त्री बने और राष्ट्रवादी कांग्रेस पार्टी के सिम्बल पर क़ब्ज़ा भी कर लिया। अतीत में जिस अजित पवार को नरेन्द्र मोदी और भाजपा के अन्य नेता भ्रष्टाचारी बताकर जेल में चक्की पिसवाने की बात करते थे, सत्ता-सुख के लिए उसी "भ्रष्टाचारी" का स्वागत रेड कार्पेट बिछाकर किया। यह भी भाजपा के दोमुँहेपन के प्रातिनिधिक उदाहरणों में एक है। 2020 में ज्योतिरादित्य सिंधिया के नेतृत्व में कांग्रेस के 22 विधायक बाग़ी हो गये, कमलनाथ की सरकार गिर गयी और मध्यप्रदेश में भाजपा के शिवराजसिंह चौहान मुख्यमन्त्री बने।

इन घटनाओं में भाजपा द्वारा बुर्जुआ विपक्षी पार्टियों में तोड़फोड़ मचाने को, केवल बुर्जुआ वर्ग के एक मज़बूत धड़े द्वारा सापेक्षतः कमज़ोर धड़े की बाँहें मरोड़ने के रूप में नहीं देखना चाहिए। इसे जनता के नज़रिये से भी देखा जाना चाहिए। पूँजीवादी चुनावों में जनता बेहद सीमित तौर ही सही पर अपने जनवादी अधिकारों का प्रयोग करती है। भाजपा जब किसी भी पार्टी के विधायकों-सांसदों या किसी अन्य चुने हुए जनप्रतिनिधियों को तोड़कर अपने पाले में शामिल करती है, तो यह जनता के जनवादी अधिकारों पर भी हमला है। हमें हर प्रकार जनवादी अधिकार के हनन का विरोध करना चाहिए।

ध्यान देने वाली बात यह भी है कि भाजपा केवल विपक्षी पार्टियों को कमज़ोर नहीं करती बल्कि उसके प्रकोप से कई बार उनके सहयोगी भी नहीं बच पाते, पंजाब में शिरोमणि अकाली दल और बिहार में जनता दल यूनाइटेड (जदयू) इसके अच्छे उदाहरण है। बल्कि यह कहना ज़्यादा सही होगा कि ठीक वे दल जो भाजपा के प्रति सहयोग-सहकार का रुख़ अपनाते रहे हैं, ताकि क्षेत्रीय राजनीति में कांग्रेस को प्रतिसन्तुलित करने का काम किया जा सके, अन्तत: भाजपा द्वारा तोड़ दिये जाते हैं, या निगल लिये जाते हैं। कौन भूल सकता है कि ममता बनर्जी ने भाजपा को अपना "नैसर्गिक मित्र और सहयोगी" बताया था? कौन नहीं जानता कि देश में धुर-दक्षिणपंथी और फ़ासीवादी राजनीति को आगे बढ़ाने में अगर किसी दल ने भाजपा का सबसे लम्बे समय तक साथ दिया वह बाल ठाकरे और ठाकरे परिवार की शिवसेना थी? किसे नहीं याद कि राष्ट्रवादी कांग्रेस पार्टी के शरद पवार ने अपनी राजनीतिक महत्वाकांक्षाओं को परिणति तक पहुँचाने के लिए भाजपा के साथ सहयोग किया था और कांग्रेस में फूट डाली थी? और क्या किसी को इसमें शक़ है कि शिरोमणि अकाली दल की आज जो गत बनी है, उसमें सबसे ज़्यादा योगदान उसके द्वारा भाजपा के साथ की गयी गलबँहियाँ हैं?

अब ये सारे लोग और उनकी पार्टियाँ कहाँ हैं, यह सभी को पता है। वैसे भी किसी देश की राजनीति में जब भी कई दक्षिणपंथी दल होते हैं, तो उसमें से फ़ासीवादी पार्टी ही अन्त में जीवित रहती है और उसके बड़े गन्दे नाले में सारे छोटे गन्दे नाले कालान्तर में समाहित हो जाते हैं। इसलिए शिवसेना और तृणमूल कांग्रेस (जो ख़ुद एक धुर-दक्षिणपंथी सर्वसत्तावादी पार्टी है) का भाजपा द्वारा तोड़ और निगल लिया जाना न तो कोई आश्चर्य की बात है, न ही दुख की। ये पार्टियाँ और इसके नेता फ़ासीवाद के साथ गलबँहियाँ करने और उसे मदद पहुँचाने की सज़ा भुगत रहे हैं। उनके साथ एक प्रकार से काव्यात्मक न्याय हो गया है!

विपक्षी पार्टियों के नेता भाजपा के जाल में कैसे फँसते हैं? इसमें बहुत-से कारक हैं। सत्ता में भागीदारी का लालच और ईडी, सीबीआई और अन्य सरकारी एजेंसियों का डर दिखाकर भाजपा विपक्षी पार्टियों के नेताओं को तोड़कर अपने में मिलाती है। इसके अलावा, पूँजी की शक्तिमत्ता का भाजपा के साथ खड़ा होना एक अहम कारक है। ऐसा कोई भी नेता नहीं है जिसके पेट में एकदम से "राष्ट्र-प्रेम" का मरोड़ उठता है और वह भाजपा का दामन थाम लेता है। अलग-अलग नेताओं की दुखती रख के अनुसार उन्हें पैसे और शासन सत्ता में पदों का प्रलोभन दिया जाता है या तमाम सरकारी एजेंसियों द्वारा छापे और मुक़दमों व गिरफ़्तारी का डर दिखाया जाता है। इन सबकी भौतिक ज़मीन मौजूद होती है क्योंकि ये सभी नेता दूध के कितने धुले हैं, यह तो सभी को पता है! भाजपा के नेता घपलों-घोटालों में उतने ही या उससे ज़्यादा लिप्त होते हैं, लेकिन जब सैंया भये कोतवाल तो डर काहेका!? साथ ही, जो नेता भाजपा के पाले में चला जाता है, उन पर ये एजेंसिया अपना शिकंजा कसना बन्द कर देती हैं। हेमन्ता बिस्वा शर्मा, अर्जुन मुण्डा, शुवेन्दु अधिकारी, अजित पवार सहित और भी ढेरों उदाहरण हैं, जिनके भाजपा से साँठगाँठ होने के बाद ईडी और सीबीआई शान्त होकर बैठ गयी।

हालिया दिनों में टीएमसी के बाग़ी नेताओं ने जो "आया राम गया राम" का खेल खेला है, इसके क्या मायने हैं? इसपर कई विशेषज्ञ मानते हैं कि लोकसभा में परिसीमन विधेयक यानी लोकसभा और विधानसभा क्षेत्रों की सीमाओं का पुनर्निर्धारण करने वाले विधेयक को पारित कराने की ताक़त संसद के दोनों सदनों में मोदी सरकार के पास नहीं है। विपक्षी पार्टियों में तोड़-फोड़ के ज़रिये भाजपा आने वाले दिनों में परिसीमन विधेयक और ऐसे विधेयकों को पारित करवाने के लिए जुगत लगा रही है। कई लोग भविष्यवाणी रहें हैं कि टीएमसी में टूट तो इस कड़ी का पहला अध्याय है, आगे और भी पार्टियों के नेताओं को निशाना बनाया जायेगा। टीएमसी में टूट के बाद बाग़ियों ने ममता बनर्जी के भतीजे अभिषेक बनर्जी के निरंकुश कार्यशैली पर सवाल उठाया और ख़ुद को असली टीएमसी बताकर पार्टी पर दावा ठोकने की बात कही है। सम्भावना है कि भविष्य में चुनाव आयोग और भाजपा के सहयोग से बाग़ियों को टीएमसी पार्टी और उसके सिम्बल पर भी नियंत्रण प्राप्त हो जाये। यह बात सच है कि परिसीमन विधेयक, एक देश एक चुनाव आदि जैसे ढाँचागत फ़ासीवादी बदलाव लाने के लिए भाजपा को राज्यसभा में पर्याप्त संख्या की आवश्यकता है और तमाम विपक्षी पार्टियों में तोड़-फोड़कर उन्हें आनन-फ़ानन में "राष्ट्रवादी" बनाने के पीछे इस आवश्यकता का काफ़ी हाथ है।

लेकिन हमारा विश्लेषण इससे आगे जाना चाहिए। सवाल केवल इस तात्कालिक आवश्यकता का नहीं है। प. बंगाल विधानसभा चुनाव में ममता बनर्जी व उनकी पार्टी टीएमसी की हार और बाद में टीएमसी में टूट से भारत की लिबरल जमात सदमे में है। ऐसे लोग हमेशा उम्मीद करते हैं कि चुनावों में भाजपा को हराकर फ़ासीवाद को निर्णायक तौर पर हराया जा सकता है, जबकि अनुभव बताते हैं कि ऐसा सोचना 'आकाश-कुसुम की अभिलाषा' करने के समान है। और अब तो तात्कालिक तौर पर भाजपा की चुनावी पराजय के भी सारे रास्ते समूची राज्यसत्ता की मशीनरी पर कब्ज़ा करके मोदी-शाह नीत भाजपा समाप्त करती जा रही है। प. बंगाल में फ़ासीवादी भाजपा की जो जीत हुई है यह वास्तव में समाज में फैल रहे प्रतिक्रयावादी फ़ासीवादी आन्दोलन और राज्यसत्ता पर फ़ासीवादी शक्तियों द्वारा आन्तरिक कब्ज़े की ही एक अभिव्यक्ति है। संघ परिवार के नेतृत्व में चल रहा यह प्रतिक्रियावादी सामाजिक आन्दोलन वास्तव में पूँजीवाद के आर्थिक संकट, बढ़ती महँगाई, बेरोज़गारी आदि का ही नतीजा है। क्रान्तिकारी ताक़तों की कमज़ोरी और बिखराव का लाभ प्रतिक्रियावादी ताक़तें उठा रही हैं। ऐसे में मज़दूर वर्ग के नेतृत्व में एक शक्तिशाली क्रान्तिकारी जन-आन्दोलन के ज़रिये ही फ़ासीवाद को निर्णायक शिकस्त दी जा सकती है।

एक बात और जो हमें नहीं भूलनी चाहिए कि फ़ासीवादी किसी भी प्रकार की भलमनसाहत या "नैतिकता" की मध्यवर्गीय याचनाओं और अपीलों से कभी प्रभावित नहीं होते। आर.एस.एस. के गुरू गोलवलकर ने अपनी पुस्तक 'वी अवर नेशनहुड डिफ़ाइण्ड' में जर्मन नात्सियों व हिटलर की प्रशंसा की थी। भारतीय फ़ासीवादियों के विचारधारात्मक पितामह हिटलर ने भी जर्मनी में विपक्षी पार्टियों को जैसे-तैसे करके ठिकाने लगाया था। एक योग्य वंशज की भाँति भारतीय फ़ासीवादी भी अपने पुरखों के नक़्शे-क़दम पर चल रहे हैं। बल्कि कुछ मामलों में वे योजनाबद्धता, अपने इतिहास से सीखने, रणकौशल बनाने, धैर्य से लम्बी रणनीति पर सुचिन्तित अमल करने के मामले में हिटलर और मुसोलिनी से आगे जा चुके हैं।

आज के दौर की फ़ासीवाद-विरोधी जन-रणनीति को भी इन परिवर्तनों को समझकर जनता को फ़ासीवाद द्वारा थोपे जा रहे अन्याय, दमन और भयंकर असमानता के विरुद्ध जागृत, लामबन्द और गोलबन्द करना होगा।

"आँकड़े छिपाओ, बेरोज़गारी भगाओ!"
बेरोज़गारी से लड़ने का मोदी सरकार का नायाब नुस्ख़ा

● वारुणी पूर्वा

भारत में बेरोज़गारी नहीं है, लोगों को बस उसके होने का वहम है! क्योंकि सरकार के आधिकारिक आँकड़े यही बताते हैं कि 2017-18 से 2023-24 के वर्षों में बेरोज़गारी दर 6% से सीधे 3.2% तक कम हो चुकी है। रोज़गार देने में यह सरकार इतनी अव्वल हो गयी है कि इसने विश्व के सारे रिकॉर्ड तोड़ दिये हैं! भारत में मोदी जी की कृपा से युवाओं के बीच की बेरोज़गारी दर 17.8% से गिरकर 10.2% हो गयी जोकि वैश्विक युवा बेरोज़गारी दर (13.3%) से कम है! यह भारत का विश्वगुरु बनने की ओर एक बड़ा क़दम है!

ज्ञात हो राष्ट्रीय सांख्यिकी कार्यालय (जोकि स्टैटिस्टिक्स एण्ड प्रोग्राम इम्प्लीमेंटेशन मंत्रालय के तहत आता है) द्वारा 2017 में ही भारत में रोज़गार और बेरोज़गारी संकेतकों का अनुमान लगाने के लिए पीएलएफ़एस (पीरियाडिक लेबर फ़ोर्स सर्वे) की शुरुआत की गयी थी। पीएलएफ़एस हर साल अपनी रिपोर्ट पेश करता है और पीएलएफ़एस के आधिकारिक रिपोर्ट के अनुसार भारत में जून 2025 के दौरान बेरोज़गारी दर सिर्फ़ 5.6% थी. और 15 से 29 साल के नौजवानों के बीच यही बेरोज़गारी दर 15.3% पायी गयी। वार्षिक पी.एल.एफ़.एस. रिपोर्ट के आधिकारिक आँकड़ों से यह भी पता चलता है कि पिछले छह वर्षों में बेरोज़गारी दर घटकर लगभग आधी हो गयी है—2017-18 में 6 प्रतिशत से 2023-24 में 3.2 प्रतिशत तक।

चौंकिये मत! यही भारत देश के युवाओं की सच्चाई है! मोदी सरकार दिन-रात एक करके युवाओं के लिए काम करती चली जा रही है! उनके लिए *स्किल इण्डिया, मेक इन इण्डिया, डिजिटल इण्डिया* और ना जाने कितने सारे *इण्डिया* का निर्माण कर चुकी है! अब अगर इतने सारे अवसरों के बावजूद कोई छात्र बेरोज़गार घूम रहा है, तो ज़रूर उसी में कोई कमी होगी! इसमें सरकार का नहीं बल्कि युवाओं का दोष है कि आख़िर क्यों वे अपने आप को उस क़ाबिल नहीं बनाते, आख़िर क्यों वो कामचोरी करते हैं? यदि बिहार पुलिस कांस्टेबल की भर्ती के लिए 4200 पदों पर बहाली निकलती है और उसमें 1 लाख से ज़्यादा आवेदनकर्ता होते हैं, तो छात्रों को इतनी प्रतिस्पर्धा में तो और भी ज़्यादा मेहनत करनी चाहिए! ज़िन्दगी के 8 या 10 साल परीक्षा की तैयारी में लगाना काफ़ी नहीं! नौजवानों को पूरी ज़िन्दगी रटन्त शिक्षा में लगा देनी चाहिए भले ही पदों की भर्ती के लिए विज्ञापन सालों-साल बाद निकले, भले ही हर दूसरी परीक्षा में धाँधली हो जाये! ये चीज़ें तो भूकम्प समान प्राकृतिक आपदा है, इनमें बेचारी मोदी सरकार क्या कर सकती है? पर छात्र? उन्हें तो संयम से काम लेना चाहिए। उन्हें उत्तेजित होकर कोई ग़लत क़दम नहीं उठाना चाहिए! जैसा कि हमारे शास्त्रों में बताया गया है, "सन्तोषम परम सुखम"! तो सारे नौजवान पेट पर पट्टी बाँधे, बगलों में डिग्रियाँ दबाये सड़कों पर चप्पलें घिसें, और ज़ोर से बोलें, "सब चंगा सी!"

कुछ छात्र गलत संगत में आ जाते हैं और अधीर होकर कभी पदों की बहाली के लिए, तो कभी परीक्षा में धाँधली के ख़िलाफ़, तो कभी एलपीजी सिलिण्डर के लिए सड़कों पर उतर जाते हैं! अभी हाल में सैकड़ों की संख्या में छात्र आबादी दिल्ली के जन्तर-मन्तर पर शिक्षा मंत्री के इस्तीफ़े के लिए और लगातार परीक्षाओं में हो रही धाँधली के ख़िलाफ़ सड़कों पर उतरी। उसके बाद से देश के अलग-अलग शहरों में तमाम छात्र सड़कों पर उतर रहे हैं। असल में यह कुछ लोगों द्वारा देश (यानी मोदी सरकार) में अस्थिरता पैदा करने का एक 'षड्यंत्र' है! ज़रूर ये पाकिस्तानी एजेण्ट होंगे! या "नक्सली" होंगे! और अगर इनमें मुसलमान भी हैं, तो वे तो सारे "बंगलादेशी" होंगे! ऐसे ही लोगों के कारण कभी लखनऊ या इलाहाबाद में एसएससी जीडी या लेखपाल की परीक्षा में धाँधली के ख़िलाफ़ सड़क पर हंगामा होता है, तो कभी पटना में बिहार पुलिस भर्ती की परीक्षा में स्पेशल ट्रेन चलाने की माँग को लेकर पुलिस पर ही पत्थरबाज़ी की जाती है! ये वे लोग हैं जो बिना मेहनत-मशक्कत किये ही सब कुछ हासिल कर लेना चाहते हैं! इन्हें ठीक ही संज्ञा दी गयी है – कॉकरोच! असल में ये सारे के सारे कामचोर हैं और परजीवी बनकर जीने की चाहत रखते हैं! कुछ काम-धाम नहीं है, तो सड़क पर उतर जाते हैं आन्दोलनजीवी बनने! जब देश में बेरोज़गारी है ही नहीं, तो आख़िरकार ये छात्र-युवा आबादी क्यों बेकार सड़कों पर हंगामा कर रही है? देशद्रोही, पाकिस्तानी एजेण्ट कहीं के!

आज के युवाओं को देश के प्रधान सेवक से सीखना चाहिए कि कैसे जनता की सेवा में 18-18 घण्टे तक काम किया जाता है! ज़रा सोचिये, मोदी जी बढ़ती बेरोज़गारी के बारे में फ़ैल रहे "वहम" को दूर करने के लिए कितनी मेहनत कर रहे हैं! वह लगातार अपने "राष्ट्रवादी" मीडिया और तमाम सरकारी उपक्रमों और आर.एस.एस. के कर्मठ कार्यकर्ताओं के ज़रिये बताने की कोशिश कर रहे हैं कि बेरोज़गारी बस एक वहम है, एक मानसिक स्थिति है जिससे युवाओं को मुक्त होना है! और यह कि असल समस्या मुसलमानों और घुसपैठियों की आबादी में बढ़ोत्तरी की है, असल समस्या मज़दूरों-छात्रों-युवाओं और विभिन्न सामाजिक कार्यकर्ताओं (यानी कॉकरोचों) द्वारा "देश" (यानी मोदी सरकार) के ख़िलाफ़ रचे जाने वाले षड्यंत्र की है! लेकिन कुछ मीडिया समूह द्वारा बार-बार उनकी मेहनत पर पानी फेर दिया जाता है! अब क्या करें, अन्तरराष्ट्रीय स्तर के मीडिया समूहों को मोदी सरकार अपनी गोद में बैठाने की क्षमता नहीं रखती है, इसलिए जनता के सामने कभी-कभी ऐसे लीकेज हो जाया करते हैं!

ज्ञात हो रायटर्स (reuters) जोकि अन्तरराष्ट्रीय स्तर का एक प्रसिद्ध मीडिया समूह है, ने भारत में बेरोज़गारी की स्थिति के मोदी सरकार के हवाई दावे की पोल खोल दी। पीएलएफ़ सर्वेक्षण द्वारा जो सरकार की आधिकारिक रिपोर्ट सामने आयी, उसके अनुसार भारत में जून 2025 के दौरान बेरोज़गारी दर सिर्फ़ 5.6% थी! वार्षिक पी.एल.एफ़.एस. रिपोर्ट के आँकड़ों से यह नतीजा सामने आया कि 2017-18 में जो बेरोज़गारी दर 6 प्रतिशत थी, वह 2023-24 में 3.2 प्रतिशत तक पहुँच गयी। इसे गोदी मीडिया द्वारा मोदी सरकार की एक बड़ी उपलब्धि के तौर पर प्रसारित किया जाने लगा। लेकिन इस उपलब्धि के पीछे की असलियत क्या थी? रायटर्स ने इस दावे को लेकर कई जाने माने स्वतन्त्र अर्थशास्त्रियों से राय ली। उनका कहना था कि भारत का आधिकारिक बेरोज़गारी आँकड़ा सही नहीं है। पी.एल.एफ़.एस. की रिपोर्ट में जो बेरोज़गारी दर बतायी गयी है, असल में वह उससे दोगुनी है। रायटर्स के सर्वेक्षण में शामिल 17 विशेषज्ञों ने बताया कि भारत में बेरोज़गारी दर औसतन 10% है और यह 7% से 35% तक भी हो सकती है। मिनिस्ट्री ऑफ़ स्टैटिस्टिक्स एण्ड प्रोग्राम इम्प्लीमेंटेशन, जिसके तहत यह सर्वेक्षण कराया जाता है, उसने तुरन्त ही रायटर्स के इस बात का खण्डन करते हुए एक आधिकारिक बयान जारी किया जिसमें उन्होंने बताया कि रायटर्स का यह विश्लेषण ग़लत है। इसका कारण उन्होंने यह गिनाया कि रायटर्स ने किसी आँकड़े पर आधारित होकर नहीं बल्कि कुछ 'अज्ञात अर्थशास्त्रियों' के अनुमानों को आधार बनाकर अपना विश्लेषण रखा है। क्या पता, ये सभी 'अज्ञात अर्थशास्त्री' मोदी सरकार के प्रति पूर्वाग्रहित होकर अपना विश्लेषण रख रहे हों! क्या पता ये भी कॉकरोच हों!

परन्तु कई तरीक़ों से आँकड़ों में "राष्ट्रवादी" फ़ेर-बदल करके अपना बचाव करने की कोशिशों के बावजूद ज़मीनी हक़ीक़त "देशद्रोह" करते हुए चीख़-चीख़ कर बयान कर रही है कि महँगाई व बेरोज़गारी पहले की तुलना में अभूतपूर्व रूप से बढ़ी है! पर सवाल उठता है कि आख़िरकार क्यों सरकारी आँकड़ों में यह हक़ीक़त नज़र नहीं आ रही? इसलिए, सरकार के इन दावों का वैज्ञानिक विश्लेषण करना ज़रूरी है! आइये, 'मेहनती मोदी सरकार' के इन आँकड़ों की पड़ताल की जाये!

ये आँकड़ें झूठे हैं, ये दावा किताबी है!

पी.एल.एफ़.एस. यानी पीरियाडिक लेबर फ़ोर्स सर्वे, एक नमूना-आधारित सर्वेक्षण है जो हर साल लगभग 1 लाख परिवारों का साक्षात्कार लेता है और उसके आधार पर भारत में बेरोज़गारी दर का विश्लेषण करता है। जैसा कि लेख की शुरुआत में ही बताया गया कि मिनिस्ट्री ऑफ़ स्टैटिस्टिक्स एण्ड प्रोग्राम इम्प्लीमेंटेशन के तहत यह सर्वेक्षण करवाया जाता है। इसकी शुरुआत 2017 से की गयी थी। इसने 2017-18 में NSSO के पुराने पंचवर्षीय बेरोज़गारी सर्वेक्षण का स्थान ले लिया था। यह सर्वेक्षण चार मुख्य संकेतकों की रिपोर्ट करता है। पहला, श्रमशक्ति भागीदारी दर (LPFR - Labor Force Participation Rate)—यह इस चीज़ को दर्शाता है कि काम करने योग्य आबादी का कितना बड़ा हिस्सा कार्यरत है या सक्रिय रूप से काम की तलाश में है। दूसरा, श्रमिक जनसंख्या अनुपात (WPR- Workers Population Ratio), यानी भारत की कार्यशक्ति (जो किसी न किसी प्रकार का काम कर रही है)। यह उस आबादी के बारे में बताता है जो वास्तव में रोज़गारशुदा है। तीसरा, बेरोज़गारी दर (UR - Unemployment Rate)—श्रमशक्ति भागीदारी दर और श्रमिक जनसंख्या अनुपात को आधार बनाकर यह उस आबादी के बारे में जानकारी देता है जो अपनी श्रमशक्ति बेचने के लिए बाज़ार में मौजूद है लेकिन उसे कोई ख़रीदार नहीं मिल रहा। यानी बेरोज़गार आबादी का वह हिस्सा होते हैं जिनके पास काम नहीं है लेकिन वे काम की तलाश में है, यानी उनकी संख्या, तथा कुल श्रमशक्ति की कुल संख्या का अनुपात। इन्हीं चार चीज़ों को आधार बनाकर पी.एल.एफ़. सर्वेक्षण से देश में बेरोज़गारी की स्थिति का विश्लेषण किया जाता है।

इसमें भी बेरोज़गारी की दर को परिभाषित करने के लिए दो पैमानों का इस्तेमाल होता है। पहला, सामान्य स्थिति जोकि 365 दिनों की सन्दर्भ अवधि में बेरोज़गारी की एक साल की स्थिति को स्पष्ट करता है और दूसरा, साप्ताहिक स्थिति जोकि पिछले 7 दिनों की सन्दर्भ अवधि में बेरोज़गारी की वर्तमान साप्ताहिक स्थिति को स्पष्ट करता है।

अब आइये जानते हैं कि पी.एल.एफ़. सर्वेक्षण ने भारत के बेरोज़गारी दर के बारे में क्या विश्लेषण किया है। आप लेख में दिये ग्राफ़ में देख सकते हैं कि कैसे 2017-18 से 2024-25 आते-आते मोदी सरकार की आधिकारिक बेरोज़गारी दर कम होती गयी है। यहाँ तक कि कोरोना काल के दौरान जब मोदी सरकार द्वारा थोपे गये अनियोजित लॉकडाउन के कारण भारतीय अर्थव्यवस्था धराशायी हो गयी थी, जब नोटबन्दी से लेकर कोविड लॉकडाउन के बीच ही क़रीब 4 करोड़ लोग अपने रोज़गार से हाथ धो बैठे थे, तब भी बेरोज़गारी दर बढ़ी नहीं बल्कि कम होती गयी! जब आप "विश्वगुरू" बन जाते हैं, तो ऐसे चमत्कार होते रहते हैं! बड़े आश्चर्य की बात है कि कोरोना काल में जब कई धंधे बर्बाद हो चुके थे, जब कई उद्योग बन्द हो चुके थे और 3.2 करोड़ मज़दूर आबादी शहरों से गाँव की और लौटने को मजबूर हुई थी, ऐसी अवधि में भी बेरोज़गारी दर में बढ़ोत्तरी नहीं आयी! यह तो (नॉन-बायोलॉजिकल) अजैविक मोदी जी की कृपा का परिणाम ही हो सकता है!

वहीं दूसरी ओर, इसी साल के पी.एल.एफ़.एस. नामक सर्वेक्षण की रिपोर्ट में यह भी बताया गया है कि ग्रामीण श्रमिक जनसंख्या अनुपात (WPR) शहरी श्रमिक जनसंख्या अनुपात से काफ़ी ज़्यादा है। यानी शहरी इलाक़ों के मुक़ाबले ग्रामीण इलाक़ों में बेरोज़गारी दर कम है। क्या इसका मतलब यह है कि शहरों के मुकाबले गाँवों में ज़्यादा नौकरियाँ हैं? अगर हाँ, तो आख़िर ग्रामीण आबादी को रोज़गार की तलाश में शहरों में क्यों प्रवासी बनकर रहने की ज़रूरत पड़ रही है!

एक और अचम्भित करने वाली बात इस सर्वेक्षण में सामने आयी। वह यह कि ग्रामीण महिलाओं की श्रमशक्ति बाज़ार में अचानक से बढ़कर शहरों से ज़्यादा हो गयी। 2017-18 के सर्वेक्षण में जिन ग्रामीण महिलाओं का श्रमिक जनसंख्या अनुपात (WPR) 17% था वह 2024-25 में बढ़कर 39% से ज़्यादा हो गया। आख़िर कैसे शहरों के मुक़ाबले गाँव में महिलाओं की श्रमशक्ति भागीदारी दर ज़्यादा हो गयी? इसका अर्थ तो यह निकलता है कि महिलाओं को अब रोज़गार की तलाश में शहरों की ख़ाक छानने की ज़रूरत नहीं पड़ेगी, अब गाँव में ही रोज़गार के नये अवसर पैदा हो रहे हैं! भारत में 2026 के बेरोज़गारी सर्वेक्षण में सबसे ख़ास बदलाव महिलाओं की श्रमशक्ति भागीदारी दर (LFPR) में बढ़ोत्तरी थी। 2017-18 के सर्वेक्षण में यह 23.3% से बढ़कर 2024-25 में लगभग 42% हो गया। भारत जैसी बड़ी अर्थव्यवस्था में इतने कम समय में इतना बड़ा बदलाव, अचम्भित करने वाला है।

वहीं दूसरी ओर देखें तो पिछली बार के पी.एल.एफ़. सर्वेक्षण की रिपोर्ट के अनुसार 2024-25 में बेरोज़गारी दर मात्र 3.2% थी जोकि 2017-18 के मुक़ाबले लगभग आधी हो गयी! इसी दौरान बाज़ार में अपनी श्रमशक्ति को बेचने वालों की आबादी में भी बढ़ोत्तरी हो रही

(अगले पेज पर जारी)

बेरोज़गारी से लड़ने का मोदी सरकार का नायाब तरीक़ा

(पिछले पेज से आगे)

थी। जैसाकि आप नीचे दिये ग्राफ़ में देख सकते हैं कि 2017-18 में जो श्रमशक्ति भागीदारी दर 50% थी, वह 2024-25 के साल में 61% हो गयी और उसमें भी रोज़गारशुदा श्रमिकों का प्रतिशत 59% था। इससे ऐसा प्रतीत हो सकता है कि बाज़ार में श्रमशक्ति के बढ़ने के बावजूद भी लोगों के लिए रोज़गार की कमी नहीं हो रही! यानी मोदी राज में रोज़गार के नये-नये अवसरों की बरसात हो रही है! लेकिन सवाल उठता है कि अगर सरकार नये रोज़गार सृजित कर रही है, तो आख़िरकार एक बड़ी छात्र-युवा आबादी सड़कों पर क्यों है?

ये वे बिन्दु हैं जोकि इन आधिकारिक आँकड़ों की सच्चाई पर बड़े सवाल खड़े करते हैं। दरअसल ये सारे चमत्कार हमारे नॉन-बायोलॉजिकल मोदी जी का कमाल हैं! ईश्वर का नया अवतार लेकर पैदा हुए हमारे प्रधानमंत्री बेरोज़गारी को चुटकी बजाते ही ख़त्म कर देते हैं! कैसे ख़त्म करते हैं? सरकार आधिकारिक आँकड़ों के विश्लेषण में ही चार सौ बीसी करके बेरोज़गारी की असल दर को छुपा लेती है, इस प्रकार जब बेरोज़गारी की स्थिति को बयान करने वाले आँकड़े ही नहीं रहते, तो बेरोज़गारी कैसे रहेगी?!

जी हाँ! सरकारी विभाग द्वारा पी.एल.एफ़. सर्वेक्षण के विश्लेषण में जिस पद्धति का इस्तेमाल किया गया है वह अपने आप में सन्देहास्पद है! असल में बेरोज़गारी की हक़ीकत को छुपाने के लिए सरकार ने अपने विश्लेषण में रोज़गार की परिभाषा को ही बदल दिया! इस पूरे सर्वेक्षण में उस व्यक्ति को रोज़गारशुदा माना गया है जिसने हफ़्ते में कम से कम एक घण्टा कोई भी काम किया हो! जब एक साल की अवधि में बेरोज़गारी दर का विश्लेषण किया जाता है, तो उसमें 365 दिन में किसी व्यक्ति को यदि 30 दिनों के लिए भी कोई काम मिला हो, तो उसे सरकारी आँकड़ो में रोज़गारशुदा माना जायेगा! इस तरीक़े से रोज़गार का आकलन करना जनता के साथ एक भद्दा मज़ाक है। ज़ाहिर हैं कि रोज़गार की इस परिभाषा की वजह से देश की बेरोज़गारी दर कम ही प्रतीत होगी! रोज़गार का अर्थ होता है रोज़ का पक्का काम और उसका पक्का भुगतान, यानी 365 में से अवकाश के दिनों को छोड़कर सभी दिन काम मिलने पर ही एक व्यक्ति को रोज़गारशुदा माना जाना चाहिए। ज़ाहिर है, जो व्यक्ति साल में मात्र 30 दिन या सप्ताह में मात्र एक घण्टे काम का वेतन पाता होगा, वह किस प्रकार अपने या अपने परिवार का भरण-पोषण कर पायेगा! जब तक पक्की नौकरी को रोज़गार की परिभाषा का हिस्सा नहीं बनाया जायेगा, तब तक बेरोज़गारी की असल तस्वीर सामने नहीं आ सकती।

ज्ञात हो कि भारत की लगभग 93% कार्यशक्ति असंगठित क्षेत्र में काम करती है, लेकिन इस सरकारी सर्वेक्षण में उनके काम करने की स्थिति, काम के घण्टे, औसत मज़दूरी या वेतन और काम की प्रकृति का कोई आँकड़ा मौजूद नहीं। सरकार के लिए अनौपचारिक क्षेत्र में काम करने वाली आबादी का अस्तित्व ही नहीं है! सरकार द्वारा मान्य रोज़गार की परिभाषा के अनुसार अनौपचारिक क्षेत्र के दिहाड़ी, ठेका व कैजुअल मज़दूरों की एक बड़ी संख्या, जिनके पास कोई रोज़गार सुरक्षा नहीं है, को भी रोज़गारशुदा क़रार दे दी गया है। वहीं दूसरी ओर 2025 के सर्वेक्षण में श्रमशक्ति भागीदारी दर (LFPR) में जिस बढ़ोतरी को दिखाया गया है, उसका मुख्य कारण तथाकथित स्वरोज़गार में हुई वृद्धि है। लेकिन इन स्वरोज़गार करने वालों की स्थिति क्या है? यदि कोई व्यक्ति ढंग का रोज़गार न मिलने की सूरत में कहीं ठेला लगाकर या चाय स्टॉल लगाकर या फ़िर ई-रिक्शा/ऑटो चलाकर मुश्किल से अपनी रोज़ी कमा रहा है, या कोई छोटी जोत का ग़रीब किसान, जिसकी जोत से उसके खाने-पीने व दवा-इलाज का बुनियादी ख़र्च भी मुश्किल से जुट पा रहा हो, तो ऐसे तमाम व्यक्तियों को स्वरोज़गार के नाम पर रोज़गारशुदा मानना कितना वाजिब है?!

जिनको नौकरी नहीं मिलती, वे सारे लोग आत्महत्या थोड़े ही कर लेते हैं! वे तथाकथित स्वरोज़गार कर किसी तरह से भुखमरी रेखा पर जीवित रहते हैं और मानवीयता से रिक्त पाशविक जीवन जीने को मजबूर होते हैं।

असल में सरकार का यह पूरा विश्लेषण सांख्यिकीय जोड़-तोड़ से ज़्यादा कुछ नहीं है! ना तो यह नौकरी के प्रकार पर कोई स्थिति स्पष्ट करता है और ना ही औसत मज़दूरी या वेतन की स्थिति के बारे में या रोज़गार की सुरक्षा के बारे में कोई जानकारी देता है। जब सरकार कहती है कि श्रमशक्ति भागीदारी दर (LFPR) और श्रमिक जनसंख्या अनुपात (WPR) बढ़ रहे हैं, तो इसका मतलब यह नहीं कि नये रोज़गार का सृजन हो रहा है! हमें इसकी पड़ताल करनी होगी कि आख़िर क्या बढ़ रहा है—वैतनिक काम या अवैतनिक काम?!

पी.एल.एफ़.एस. की वार्षिक रिपोर्ट के मुताबिक, बिना वेतन वाले काम को स्वरोज़गार की श्रेणी में रखा जा रहा है। कई लोग जो परिवार के सामूहिक श्रम में हिस्सेदारी करते हैं, उनके पुनरुत्पादन

मोदी सरकार के चमत्कारी आँकड़े!

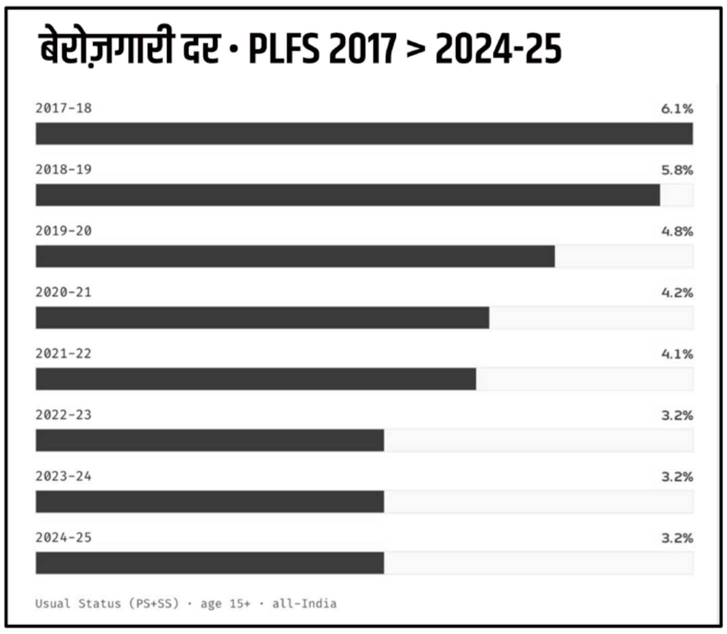

LFPR • WPR • UR | PLFS 2024-25

- **श्रम बल भागीदारी दर** (LFPR) ~ 61%
- **रोज़गार अनुपात** (WPR) ~ 59%
- **बेरोज़गारी दर** (UR) = (LFPR - WPR) ÷ LFPR × 100
- **बेरोज़गारी दर** (UR) ~ 3.2%
- **युवाओं में बेरोज़गारी दर** ~ 15-29
- **स्त्रियों में श्रम बल भागीदारी** ~ 42%

सम्बन्धी काम को भी रोज़गार माना जा रहा है। गाँव में काम करने वाली ज़्यादातर औरतें ऐसे ही पारिवारिक काम की श्रेणी में आती हैं। कई औरतें पारिवारिक खेती के काम में हाथ बँटाती हैं, उन सबको सरकार रोज़गारशुदा मानकर अपने आँकड़े प्रस्तुत कर रही है। यही वजह है कि गाँव में महिलाओं की श्रमशक्ति भागीदारी दर (LPFR) शहरों से ज़्यादा है! असल में यह गाँव में रोज़गार की बेहतर स्थिति को नहीं दिखाता है बल्कि उल्टे महिलाओं के उत्पीड़न को और कई मामले में उनके शोषण को छिपाने का काम करता है। शहरों में आम तौर पर श्रमशक्ति भागीदारी दर में कमी की एक वजह यह भी है कि बेतहाशा बढ़ती महँगाई के इस दौर में शहरों में जीवनयापन सम्भव नहीं रह गया है, जिस वजह से हज़ारों की तादाद में एक बड़ी मज़दूर आबादी अपने गाँव वापस लौटने को मजबूर हुई। असल में जिस रफ़्तार से महँगाई बढ़ रही है, उस अनुपात में वेतन में बढ़ोत्तरी नहीं हो रही। उत्तर प्रदेश की बात की जाये तो वहाँ 2012 से न्यूनतम मज़दूरी में कोई वृद्धि नहीं की गयी, जबकि गैस सिलिण्डर के बढ़ते दाम और पेट्रोल-डीज़ल के बढ़ते दाम की वजह से मज़दूरों की वास्तविक मज़दूरी में भयानक कमी आयी है। लोगों के दो जून रोटी का जुगाड़ भी मुश्किल से हो पा रहा है, बच्चों की पढ़ाई और दवा-इलाज तो दूर की बात है! ऐसे में गुडगाँव-नोएडा से लेकर कई जगहों पर मज़दूरों का गुस्सा फूटना वाजिब था। बीते तीन-चार महीने में पानीपत, सिडकुल, बरौनी, गुडगाँव, नोएडा से लेकर पूरे देश के अलग-अलग हिस्सों में स्वतःस्फूर्त तरीक़े से वेतन-बढ़ोत्तरी की माँग को लेकर मज़दूरों के आन्दोलन उठ खड़े हुए। वहीं दूसरी ओर देश भर में हज़ारों की संख्या में छात्रों-नौजवानों का गुस्सा भी सड़कों पर देखने को मिल रहा है। आज बेरोज़गारी की सबसे ज़्यादा मार पढ़ी-लिखी छात्र आबादी झेल रही है। उम्र के हिसाब से बेरोज़गारी की समस्या 15 से 29 साल की छात्र-युवा आबादी में सबसे ज़्यादा है। आधिकारिक आँकड़ों के मुताबिक, जब जून 2025 में बेरोज़गारी दर 5.6% थी, तब 15-29 साल के युवाओं में यह 15.3% थी। इसमें भी पढ़े-लिखे युवा जिन्हें मध्य या उच्च शिक्षा हासिल है, उनमें बेरोज़गारी दर सभी उम्र के औसत से 3 से 4 गुना ज़्यादा है। सरकारी सर्वेक्षण की रिपोर्ट से यह बात भी साफ़ होती है कि स्नातकोत्तर उत्तीर्ण युवाओं को स्नातक किये युवाओं के मुक़ाबले ज़्यादा बेरोज़गारी का सामना करना पड़ता है। शहरी युवतियों का और भी बुरा हाल है! उनके बीच बेरोज़गारी दर 20% से भी ज़्यादा है। आपको बताते चलें कि यह मोदी सरकार के चमत्कारी अजैविक सरकारी सर्वेक्षण के आँकड़े हैं! अब सोचिये कि युवाओं में बेरोज़गारी दर की असल तस्वीर क्या होगी! ऐसा इसलिए है क्योंकि अपनी शिक्षा के स्तर के अनुसार युवाओं को नौकरियाँ नहीं मिल रहीं। एक बड़ी आबादी इस उम्मीद में सरकारी नौकरियों की तैयारी में सालों बिता देती हैं कि उसका भविष्य किसी तरह सुरक्षित हो सके। लेकिन आज सरकारी नौकरियाँ भी ख़त्म हो चुकी हैं। मोदी सरकार की निजीकरण की नीतियों का नतीजा है कि सभी सरकारी पदों को ख़त्म किया जा रहा है। जो बचे-खुचे सरकारी पद खाली भी हैं, उनमें बहाली नहीं निकाली जाती, और बहाली निकलती भी है तो वह पेपरलीक की भेंट चढ़ जाती है। मोदी सरकार के राज में जब से एनटीए के तहत परीक्षा आयोजित करवाने का काम शुरू हुआ है, तब से पेपरलीक एक आम परिघटना बन चुकी है। लगभग 2 करोड़ छात्र आबादी पेपरलीक की वजह से बुरी तरह से प्रभावित हुई है. हताशा- निराशा में कई छात्र आत्महत्या करने को मजबूर हुए हैं। 2023 में 18 से 45 वर्ष की आयुवर्ग में आत्महत्या करने वालों की संख्या 1 लाख से ज़्यादा थी! लेकिन यह आत्महत्या नहीं बल्कि व्यवस्था द्वारा की जा रही हत्याएँ हैं। लेकिन इन निराशाओं के बावजूद भी हमारा यह समय अच्छा है क्योंकि यह निर्णायक है। आख़िर कब तक मोदी सरकार की पूँजीपरस्त नीतियों की वजह से बेरोज़गारी और महँगाई की भयंकर मार झेल रही एक बड़ी मज़दूर-कर्मचारी-छात्र-युवा आबादी चुप रहती? आज ईरान के ऊपर अमेरिका व सेटलर औपनिवेशिक हत्यारे राज्य इज़रायल द्वारा थोपे गये साम्राज्यवादी युद्ध की वजह से और अपनी विफल विदेश नीति की वजह से मोदी राज में जिस आर्थिक संकट का सामना देश को करना पड़ रहा है, उसने अभूतपूर्व रूप से महँगाई, बेरोज़गारी और ग़रीबी में वृद्धि की है! ऐसी स्थिति में मेहनतकश जनता के अलग-अलग हिस्से स्वतःस्फूर्त रूप से अपनी माँगों को लेकर सड़कों पर उतर रहे हैं और मोदी सरकार की पूँजीपरस्त नीतियों के ख़िलाफ़ आवाज़ उठा रहे हैं। फ़ासीवादी हुक़ूमत पूँजी की इतनी बड़ी ताक़त के बावजूद, बुर्जुआ राज्य मशीनरी के सभी ढाँचो में फ़ासीवादी घुसपैठ के बावजूद, और संघ के इतने बड़े कैडर आधारित ढाँचे के बावजूद, जनता को पाकिस्तान, चीन, मन्दिर-मस्जिद, हिन्दू-मुस्लिम जैसे नक़ली मुद्दों पर गुमराह करने में वांछित सफलता हासिल नहीं कर पा रही है! यह इस बात की ओर संकेत कर रहा है कि फ़ासीवाद की काली घटाएँ जनउभार के इस समुद्र में अन्तत: डूब जाएँगी। इसमें वक़्त लग सकता है, लेकिन आप कुछ लोगों को कुछ समय बेवक़ूफ़ बना सकते हैं, लेकिन सारे लोगों को आप सारे वक़्त बेवक़ूफ़ नहीं बना सकते हैं!

ठीक इसीलिए आज सत्ता में बैठी फ़ासीवादी सरकार लगातार हो रहे इन जनउभारों से डरी हुई है और उसका भयंकर रूप से दमन कर रही है। लेकिन हज़ारों कोशिशों के बावजूद वह उठ रहे इस विरोध की आवाज़ को रोक नहीं पा रही। लेकिन आज यह भी ज़रूरत है कि स्वतःस्फूर्तता से आगे बढ़कर छात्र-युवा और मज़दूर आबादी अपने आन्दोलन को संगठित रूप दे और इसे व्यवस्था परिवर्तन की लड़ाई में बदल दे। आज किसी भी किस्म के फ़ासीवादी उभार का स्थान बुर्जुआ जनवाद नहीं ले सकता। समाजवादी क्रान्ति के साथ ही आज के दौर में फ़ासीवाद का अन्त सुनिश्चित किया जा सकता है। इसलिए आज उठने वाले इन स्वतःस्फूर्त आन्दोलनों में क्रान्तिकारी शक्तियों को एक सही सर्वहारावर्गीय राजनीतिक लाइन को स्थापित करना होगा और जनता के इन संघर्षों को संगठित रूप देना होगा। तभी ही हम अपने संघर्षों की जीत को सुनिश्चित कर सकते हैं और इसे व्यवस्था परिवर्तन की लड़ाई तक पँहुचा सकते हैं।

एक इंसान जैसी ज़िन्दगी जीने के लिए न्यूनतम मज़दूरी कितनी होनी चाहिए?

● सुजय

वैसे तो दूरगामी लक्ष्य के तौर पर मज़दूर वर्ग महज़ अधिक मज़दूरी के लिए नहीं लड़ता है, बल्कि *मज़दूरी की व्यवस्था* के विरुद्ध ही लड़ता है। यानी, उसका अन्तिम लक्ष्य उस व्यवस्था का ख़ात्मा है जिसमें समाज की 8-10 फ़ीसद अल्पसंख्या के पास सारे कल-कारख़ानों, खेतों-खलिहानों और खानों-खदानों का मालिकाना हो और बाक़ी मेहनतकश आबादी अपनी शारीरिक और/या मानसिक श्रमशक्ति को बेचने के लिए बाध्य हो। लेकिन इस दूरगामी लक्ष्य के लिए जागृत, गोलबन्द और संगठित होते हुए उसे अपनी ज़िन्दगी को एक इंसानी ज़िन्दगी बनाये रखने के लिए हर रोज़, हर क़दम पर संघर्ष करना होता है।

यह संघर्ष किस चीज़ के लिए होता है? यह संघर्ष होता है एक मुनाफ़ा-केन्द्रित पूँजीवादी व्यवस्था में अपनी जीवन-स्थितियों और कार्य-स्थितियों को बेहतर बनाने का संघर्ष। इस संघर्ष के सबसे अहम मसलों में से एक होता है एक सम्मानजनक जीवनयापन योग्य मज़दूरी का मिलना। इसके अलावा, आठ घण्टे या उससे कम के कार्यदिवस, स्वैच्छिक ओवरटाइम व दोगुनी दर से ओवरटाइम का भुगतान, साप्ताहिक अवकाश, ईएसआई-पीएफ़, रिहायश का अधिकार, शिक्षा का अधिकार और सामाजिक सुरक्षा के अधिकार वे अन्य मुद्दे हैं, जिन पर मज़दूर वर्ग लड़ने के लिए अपने जीवन की भौतिक परिस्थितियों के कारण ही नियमित तौर पर बाध्य होता रहता है।

दूसरे शब्दों में, बेहतर मज़दूरी, बेहतर कार्य-स्थितियों, जनवादी श्रम अधिकारों की लड़ाई मज़दूर वर्ग के लिए वैसे ही है जैसे साँस लेना। हम जीने के लिए साँस लेते हैं। लेकिन हम साँस लेने के लिए नहीं जीते हैं! इसलिए इन संघर्षों को लड़ते हुए मज़दूर वर्ग को अपने दूरगामी ऐतिहासिक लक्ष्य को कभी नहीं भूलना चाहिए : *एक समाजवादी व्यवस्था की स्थापना जिसमें उत्पादन, राज-काज और समाज के पूरे ढाँचे पर मेहनतकश वर्गों का नियन्त्रण हो और फ़ैसला लेने की ताक़त उनके हाथों में हो।* मज़दूर वर्ग के लिए यह सीखना अनिवार्य और अपरिहार्य होता है कि वह अपने रोज़मर्रा के संघर्षों को अपने दूरगामी संघर्षों से जोड़े, उन दोनों के बीच के रिश्ते को समझे और उसे समझते हुए अपना क्रान्तिकारी संगठन और आन्दोलन खड़ा करे। इसके लिए, एक क्रान्तिकारी सिद्धान्त की आवश्यकता होती है जो क्रान्तिकारी मार्क्सवाद है। क्रान्तिकारी सिद्धान्त पर आधारित एक क्रान्तिकारी मज़दूर पार्टी जो समूची मेहनतकश जनता के क्रान्तिकारी कोर और नेतृत्व का कार्य करे : *ऐसी पार्टी का निर्माण और गठन आज भारत के सभी मेहनतकश लोगों की बुनियादी ज़रूरत है।*

लेकिन अभी हम इस विषय पर बात करने के बजाय इस पर बात करेंगे कि तात्कालिक और रोज़मर्रा के संघर्षों में केन्द्रीय महत्व रखने वाला एक प्रश्न **न्यूनतम मज़दूरी** का है और इस बात की पड़ताल करेंगे कि अगर वैज्ञानिक तौर पर ईमानदार आकलन किया जाय तो आज की महँगाई की मौजूदा दर के अनुसार न्यूनतम मज़दूरी, जो जीवनयापन के लिए उपयुक्त हो, आज के समय में कितनी होनी चाहिए।

भारत का *न्यूनतम मज़दूरी क़ानून (1948)* उस पद्धति के बारे में कुछ नहीं बताता है, जिससे न्यूनतम मज़दूरी का आकलन होता है। आकलन की पद्धति के बारे में आम तौर पर 1957 में हुए *15वें भारतीय श्रम सम्मेलन* द्वारा स्थापित मानदण्डों और मापदण्डों का पालन किया जाता है। इसके अलावा, इस पद्धति को सर्वोच्च न्यायालय के कुछ निर्णयों के आधार पर, जैसे कि *रेप्टाकोज़ एण्ड कं. बनाम उसके मज़दूर के मुक़दमे* में दिया गया निर्णय, संशोधित भी किया गया है। 15वें श्रम सम्मेलन के तहत इस बात की अनुशंसा की गयी कि न्यूनतम मज़दूरी के आकलन में एक चार सदस्यों के परिवार को आधार बनाया जाना चाहिए। इसके आधार पर भोजन सम्बन्धी आवश्यकता (न्यूनतम 2700 कैलोरी), बुनियादी सुविधाएँ जैसे कि प्रति परिवार 72 गज कपड़ा, सरकारी निम्न वेतन वर्ग के मकानों के अनुसार मकान किराया भत्ता, ईंधन, लाइटिंग, और विविध ख़र्चों के लिए 20 प्रतिशत अतिरिक्त भत्ता न्यूनतम मज़दूरी के आकलन में शामिल होनी चाहिए। सरकारों के लिए यह अनिवार्य होना चाहिए कि पाँच वर्ष से कम की अवधि में न्यूनतम मज़दूरी को संशोधित करें। इस संशोधन को आधिकारिक सरकारी राजपत्र द्वारा प्रकाशित होना चाहिए। साथ ही, 30 दिन की न्यूनतम मज़दूरी 26 दिन के आधार पर आकलित होनी चाहिए, यानी वेतन समेत साप्ताहिक अवकाश के साथ। इसके अलावा, न्यूनतम मज़दूरी के आकलन में अकुशल, अर्द्धकुशल, कुशल व अतिकुशल श्रमिक के आधार पर, अलग-अलग राज्यों में महँगाई के अलग-अलग स्तर के आधार पर, रोज़गार के प्रकार के आधार पर अन्तर मौजूद होते हैं। अन्ततः, एक *परिवर्तनीय महँगाई भत्ता* जो कि उपभोक्ता क़ीमत सूचकांक से बँधा होता है, मिलना चाहिए। यानी बढ़ती महँगाई के अनुसार महँगाई भत्ता मिलना चाहिए।

ग़ौरतलब है कि 1957 के श्रम सम्मेलन की अनुशंसाओं में शिक्षा, दवा-इलाज पर होने वाला ख़र्च उपयुक्त रूप से न्यूनतम मज़दूरी के आकलन में शामिल ही नहीं है। 1957 के श्रम सम्मेलन ने 'विविध' के उपशीर्षक के तहत इन ख़र्चों को आकलित मान लिया है, जिसके लिए 20 प्रतिशत भत्ता देने की सिफ़ारिश की गयी है। सर्वोच्च न्यायालय के उपरोक्त उल्लिखित निर्णय (*रेप्टाकोज़ एण्ड कं. बनाम उसके मज़दूर*) के अनुसार शिक्षा व दवा-इलाज का ख़र्च न्यूनतम मज़दूरी के आकलन में शामिल होना चाहिए।

लेकिन अगर आप सभी राज्यों द्वारा निर्धारित न्यूनतम मज़दूरी के आकलन को देखेंगे तो आप पाएँगे में अक्सर उनमें यह उपशीर्षक मौजूद ही नहीं है! यानी मज़दूर को न्यूनतम मज़दूरी के आकलन में एक ऐसा प्राणी मान लिया गया है, जिसे बस जीने की ख़ुराक दे दी जाय, ताकि अगले दिन वह कारखाने की शिकंजी में नींबू की तरह अपने शरीर को निचुड़वाने के लिए आ सके! उसके बच्चे और उसके परिवार को गुणवत्ता वाली शिक्षा, दवा-इलाज व अन्य मानवीय सुविधाएँ प्राप्त होती हैं या नहीं, यह न्यूनतम मज़दूरी के आकलन में क़ानूनन शामिल नहीं है। इसे अस्पष्ट रखा गया है और जानबूझकर ऐसा किया गया है। इसी प्रकार, परिवहन के ख़र्च को भी न्यूनतम मज़दूरी के आकलन का एक भिन्न और बाध्यताकारी उपशीर्षक नहीं बनाया गया है और उसे भी "विविध" का हिस्सा "मान लिया" गया है! जानबूझकर इन बुनियादी उपशीर्षकों को शामिल किये जाने को या तो अस्पष्ट रखा गया है या फिर उन्हें शामिल ही नहीं किया गया है। इससे तमाम राज्य सरकारों को इन वाजिब श्रम अधिकारों का उल्लंघन करने का अवसर मिल जाता है क्योंकि भारत में श्रम का प्रश्न संविधान की समवर्ती सूची में है। यानी उस पर केन्द्र और राज्य की सरकारें दोनों ही निर्णय ले सकती हैं।

नतीजतन, मिसाल के तौर पर, उत्तर प्रदेश राज्य सरकार को प्रभावत: यह अधिकार मिल जाता है कि वह 2012 से 2025 के बीच कोई मज़दूरी संशोधन न करे और न्यूनतम मज़दूरी को रु. 11,000 के बराबर रखे, जो भीख समान है! अन्य अधिकांश राज्यों की स्थिति भी ऐसी ही है। दिल्ली जैसे विकसित राज्य में भी अलग-अलग श्रेणियों में उच्चतम श्रेणियों के लिए भी न्यूनतम मज़दूरी मुश्किल से 20 हज़ार पहुँचती है। बाक़ी सभी जानते हैं कि हर राज्य में पूँजीपति कुशल व अतिकुशल श्रमिकों को भी अप्रेण्टिस, हेल्पर आदि का नाम देकर अकुशल मज़दूर के तौर पर रखते हैं! यहाँ तक कि सरकारी एजेंसियाँ भी इस बात को जानती हैं। लेकिन इस पर कोई भी सरकार मज़दूरों के पक्ष में कोई क़दम नहीं उठाती और ऐसी कम्पनियों पर कोई कार्रवाई नहीं की जाती है।

इसके अलावा, भारत सरकार एक **राष्ट्रीय फ़्लोर लेवल न्यूनतम मज़दूरी** भी निर्धारित करती है, जिससे नीचे कोई राज्य सरकार अपनी न्यूनतम मज़दूरी को नहीं रख सकती है। सुनकर आपको अच्छा लगा होगा! क्या आपको पता है कि वर्तमान समय में भारत सरकार द्वारा निर्धारित यह फ़्लोर लेवल न्यूनतम मज़दूरी क्या है? **राष्ट्रीय फ़्लोर लेवल न्यूनतम मज़दूरी है रु. 178 प्रति दिन! यानी, महीने का लगभग रु. 5340!** किसी राज्य को इससे कम न्यूनतम मज़दूरी रखने की आवश्यकता ही क्या है! यह फ़्लोर लेवल किस प्रकार की गणना से तैयार किया गया है? क्या यह मज़दूरों के साथ केन्द्र सरकार का एक भद्दा मज़ाक नहीं है? **सबसे पहले भारत के प्रधानमन्त्री और गृहमन्त्री को इस न्यूनतम मज़दूरी पर जीवन व्यतीत करके दिखाना चाहिए क्योंकि काम करने हेतु शिक्षण और प्रशिक्षण के स्तर के अनुसार तो उनकी स्थिति 95 प्रतिशत शहरी मज़दूरों से कम ही ठहरेगी!** नतीजा यह है कि न्यूनतम मज़दूरी को विभिन्न राज्य सरकारों ने बेहद कम रखा है। इतना कम कि एक इंसानी ज़िन्दगी जी पाना उस मज़दूरी पर सम्भव ही नहीं है।

कुछ राज्यों में औसत न्यूनतम मज़दूरी पर एक निगाह डालें: दिल्ली में यह अलग-अलग श्रेणियों के औसतन रु. 18,456 से रु. 21,000 के बीच है, उत्तर प्रदेश में यह अलग-अलग क्षेत्रों में अलग-अलग कुशलता श्रेणियों के लिए औसतन रु. 13,000 से 16,000 के बीच में है, हरियाणा में यह अकुशल के लिए रु. 15,220 से लेकर कुशल के लिए रु. 18,500 के बीच है, गुजरात में यह रु. 13,325 से रु. 13,585 के क़रीब है, महाराष्ट्र में यह रु. 12,700 से रु. 15,532 है, आन्ध्र प्रदेश में यह रु. 11,798 से रु. 15,951 है, तमिलनाडु में यह रु. 13,800 से रु. 14,500 के बीच है, तेलंगाना में यह हालिया बढ़ोत्तरी के बाद रु. 16,000 से रु. 20,000 के बीच है, केरल में रु. 15,120 से रु. 21,330 के बीच है, मध्यप्रदेश में यह रु. 12,425 से रु. 16,769 है, राजस्थान में तो यह रु. 7,410 से अतिकुशल के लिए मात्र रु. 9,334 है (देश में सबसे कम न्यूनतम मज़दूरी में से एक), बिहार में यह रु.

(पेज 19 पर जारी)

तालिका

मानवीय जीवन के लिए अनिवार्य न्यूनतम मासिक ख़र्च का एक सामान्य आकलन

1 लीटर दूध	57-62 रु. (एक चार से पाँच व्यक्तियों के परिवार में प्रतिदिन औसतन एक लीटर दूध ख़र्च होता है। उसके अनुसार, 30 दिन के लिए लगभग 1800 से 1860 रुपये)
1 किलो चीनी	55-60 रु. (आम तौर पर महीने में चार से पाँच लोगों का परिवार 8 से 10 किलो चीनी खाता है, तो 30 दिन का करीब 500 से 600 रुपये)
1 किलो नमक	27-30 रु. (एक माह में आम तौर पर 1 से 1.5 किलो की खपत होती है एक परिवार में, तो 30 दिन में औसतन 30 से 45 रुपये)
1 किलो सामान्य चावल	45-50 रु. (एक माह में आम तौर पर 25 से 30 किलो चावल ख़र्च होता है तो एक माह में कुल 1200 से 1450 रु.)
1 किलो दाल (सभी दालों का औसत)	107 रु. (एक परिवार आम तौर पर 3.5 से 4.5 किलो प्रति माह खाता है, तो कुल 375 से 474 रुपये)
प्रति माह पारिवारिक सब्ज़ी व फल ख़र्च	क़रीब 1500 से 3000 रुपये प्रति माह
खाद्य तेल पर प्रति माह औसत पारिवारिक ख़र्च	4 से 4.5 लीटर प्रति माह, औसत खपत के आधार पर क़रीब 800 से 1000 रुपये प्रति माह
अण्डों पर प्रति माह औसत ख़र्च	औसतन एक 4 से 5 लोगों के परिवार में प्रति माह 36 से 45 अण्डों की खपत होती है, प्रति अण्डा क़ीमत अभी रु. 6-7., कुल ख़र्च 250 से 315 रुपये प्रति माह
मांस व मछली पर औसत मासिक पारिवारिक ख़र्च	900 से 1250 रुपये
चाय व कॉफी पर प्रति माह ख़र्च	औसतन महीने में 300 से 1000 रुपये के बीच
मसालों पर प्रति माह ख़र्च	675 से 800 रुपये प्रति माह
रसोई ईंधन पर प्रति माह ख़र्च	कनेक्शन होने पर 700 से 1000 रुपये, कनेक्शन न होने पर कम-से-कम 2500 रुपये
पेय जल पर प्रति माह ख़र्च	शहरों में आम तौर पर 200 से 1000 रुपये; गाँवों में यह लगभग शून्य है क्योंकि अक्सर पीने योग्य जल भी शून्य ही होता है!
बिजली पर प्रति माह ख़र्च	औसत मध्यवर्गीय घर में कम से कम 2000-2500 रुपये; निर्धन घरों में औसतन 300 से 800 रुपये
घर किराये पर औसत ख़र्च	5 से 15 हज़ार रुपये
औसत पारिवारिक ख़र्च शिक्षा पर	500 रुपये (निर्धन परिवार) से लेकर 5000 रुपये (आम मध्यवर्गीय परिवार) तक
औसत स्वास्थ्य ख़र्च	रु. 300 से रु. 410 प्रति व्यक्ति प्रति माह, यानी 4 लोगों के परिवार में क़रीब 1500-1600 रुपये प्रति माह
औसत परिवहन ख़र्च	1500 से 3000 रुपये (जो सार्वजनिक परिवहन और/या टू-व्हीलर इस्तेमाल करते हैं)
औसत ख़र्च कपड़ों और जूतों पर	1200 से 1900 रुपये प्रति माह
टिकाऊ वस्तुओं (जैसे फर्नीचर, फिक्सचर, टीवी, फ्रिज वगैरह) पर औसत मासिक ख़र्च	1200 से 1800 रुपये प्रति माह
टॉलेटरीज़ पर औसत मासिक ख़र्च	400 से 900 रुपये प्रति माह

विशाखापट्टनम स्टील प्लाण्ट से लेकर सूरत के सेप्टिक टैंक तक कार्यस्थल पर मज़दूरों की मौतों का सिलसिला बदस्तूर जारी है!

इन दर्दनाक मौतों के लिए इस देश का हुक्मरान तबक़ा ज़िम्मेदार है!

● आनन्द

पिछले कुछ दिनों के दौरान देश में कई औद्योगिक हादसे हुए जिनमें दो विशेष तौर पर दिल दहलाने वाले हैं। गत 7 जून को अरब सागर के तट के निकट स्थित गुजरात के सूरत शहर की एक आभूषण बनाने वाली फ़ैक्ट्री के सेप्टिक टैंक की सफ़ाई करने उतरे 4 मज़दूरों की ज़हरीली गैस की चपेट में आने से मौत हो गयी। अभी यह ख़ौफ़नाक ख़बर सुर्ख़ियों से गयी नहीं थी कि अगले ही दिन बंगाल की खाड़ी के तट पर स्थित आन्ध्र प्रदेश के विशाखापट्टनम शहर के प्रसिद्ध स्टील प्लाण्ट में भयानक विस्फोट की त्रासद ख़बर आई जिसमें मज़दूरों पर 1600 डिग्री तापमान वाला पिघला हुआ लोहा गिर गया जिससे 9 मज़दूरों ने बेहद दर्दनाक हालत में दम तोड़ दिया और 5 मज़दूर गम्भीर रूप से झुलस गये। अरब सागर से बंगाल की खाड़ी तक और कश्मीर से कन्याकुमारी तक इस देश की फ़ैक्ट्रियों, सेप्टिक टैंकों, खानों-खदानों, और खेत-खलिहानों में करोड़ों मज़दूर दिन-रात खटते हैं जिसकी बदौलत ही इस देश का वजूद है। लेकिन बदले में मज़दूरों को क्या मिलता है? मुफ़लिसी की ज़िन्दगी या फिर दर्दनाक दमघोंटू मौत!

हर बार की ही तरह शासक-प्रशासक तबक़े ने विशाखापट्टनम और सूरत की घटनाओं को दुर्भाग्यपूर्ण हादसा बताते हुए घड़ियाली आँसू बहाये तथा मृतकों के परिजनों को कुछ मुआवज़ा देने एवं दुर्घटनाओं की जाँच का वायदा किया। हमसे यह अपेक्षा की जाती है कि हम यह मान लें कि ये हादसे क़ुदरती आपदाओं की तरह हैं जिनपर हमारा कोई नियंत्रण नहीं है। लेकिन क्या वाक़ई ऐसे हादसों को रोका नहीं जा सकता है? आइए देखते हैं।

विशाखापट्टनम स्टील प्लाण्ट का नाम राष्ट्रीय इस्पात निगम है जो राष्ट्र के विकास का स्तम्भ माना जाता है। परन्तु राष्ट्र के इस पूँजीवादी विकास की प्रक्रिया में ज्वालामुखी के लावे जैसा खौलता लोहे से मज़दूरों के शरीर जलकर राख हो जाता है। ज़ाहिरा तौर पर यह ज्वालामुखी जैसी क़ुदरती परिघटना नहीं है। किसी भी संवेदनशील इन्सान की रूह को झकझोर देने वाले इस ख़ौफ़नाक वाक़ये के लिए क़ुदरत नहीं बल्कि पूँजीवादी विकास का वह मॉडल ज़िम्मेदार है जिसमें मज़दूरों की स्थिति मशीन के पुर्ज़े जैसी होती है। इसकी जवाबदेही केन्द्र सरकार और निगम के प्रबन्धन की बनती है जिन्होंने वर्षों से मज़दूरों की सुरक्षा के प्रति घोर उपेक्षापूर्ण रवैया अपनाया है। ग़ौरतलब है कि पिछले कई वर्षों से इस सरकारी स्टील प्लाण्ट को निजी हाथों में सौंपने की तैयारी चल रही है, हालाँकि प्लाण्ट में काम करने वाले मज़दूरों और कर्मचारियों के विरोध के चलते अभी तक निजीकरण की यह योजना अमल में नहीं लायी जा सकी है। पिछले कुछ वर्षों में प्लाण्ट में बड़े पैमाने पर छँटनी की गयी और बचे हुए मज़दूरों पर काम का बोझ बढ़ा है। नयी भर्तियाँ नहीं की जा रही हैं और लागत कम करने के नाम पर पुरानी पड़ गयी मशीनों की मरम्मत पर कोई ख़र्च नहीं किया जा रहा है। यानी मज़दूरों की सुरक्षा के इंतज़ाम पुख़्ता करने के बजाय कार्यकुशलता बढ़ाने और लागत में कटौती के नाम पर उनकी ज़िन्दगी को और जोख़िम में डाला जा रहा है। ग़ौरतलब है कि किसी भी स्टील प्लाण्ट में अत्यधिक उच्च तापमान, प्रेशरयुक्त गैस, भारी उपकरण और ऊष्मीय ऊर्जा के विशाल भण्डारण की वजह से उसमें काम करने वाले मज़दूरों को बहुत जोख़िम उठाकर काम करना पड़ता है। ऐसे कार्यस्थल पर सुरक्षा के पुख़्ता इन्तज़ाम होना और उनकी समीक्षा करते हुए उसे लगातार सुधारते रहना बेहद ज़रूरी हो जाता है। परन्तु विशाखापट्टनम प्लाण्ट में सुरक्षा के इन्तज़ामों की लम्बे समय से अनदेखी की जाती रही है। ग़ौरतलब है कि विशाखापट्टनम स्टील प्लाण्ट के मज़दूर लम्बे अरसे से सुरक्षा मानकों के उल्लंघन और मशीनों की मरम्मत न होने के मद्देनज़र प्रबन्धन को आगाह करते आए थे कि प्लाण्ट में कभी भी कोई भयंकर हादसा हो सकता है। परन्तु प्रबन्धन ने मज़दूरों व कर्मचारियों की इस चेतावनी को नज़रअन्दाज़ किया क्योंकि उसका मुख्य उद्देश्य लागत में कटौती करना और कार्यकुशलता बढ़ाना जो था। यही नहीं मज़दूरों व कर्मचारियों के एक प्रतिनिधिमण्डल ने पिछले साल विशाखापट्टनम के ज़िलाधिकारी से भी मुलाक़ात कर उन्हें प्लाण्ट में कार्यस्थल पर सुरक्षा सम्बन्धित गम्भीर चिन्ताओं से अवगत कराया था और सुरक्षा ऑडिट कराने की माँग भी की थी। परन्तु ज़िलाधिकारी की ओर से भी कोई कार्रवाई नहीं की गयी। मज़दूरों की सुरक्षा के प्रति लापरवाही और उदासीनता का एक बड़ा कारण यह भी है कि देश के अन्य कारख़ानों की ही तरह विशाखापट्टनम स्टील प्लाण्ट में भी ज़्यादातर काम ठेका मज़दूरों से कराया जाता है ताकि कम्पनी प्रबन्धन मज़दूरों की सुरक्षा की ज़िम्मेदारी से पल्ला झाड़ सके और कम से कम लागत में ज़्यादा से ज़्यादा काम कराया जा सके। ऐसे में स्पष्ट है कि 8 जून को प्लाण्ट में हुआ विस्फोट सीधे तौर पर प्रबन्धन व शासन-प्रशासन की लापरवाही और मज़दूरों की सुरक्षा के प्रति आपराधिक उपेक्षापूर्ण रवैया ज़िम्मेदार है।

जहाँ तक सूरत में हुए हादसे का सवाल है तो सबसे पहले तो यह अपने आप में इस देश के विकास का डंका पीटने वालों के लिए शर्मनाक बात है कि 21वीं सदी में भी यहाँ गटर और सेप्टिक टैंक की सफ़ाई मैनुअल तरीक़े से होती है। न सिर्फ़ विकसित देशों में बल्कि मलेशिया जैसे विकासशील और छोटे देश में भी यह काम बहुत पहले ही ऑटोमेट किया जा चुका है। भारत में हालाँकि मैनुअल स्केवेंजिंग क़ानूनन प्रतिष्ठित है परन्तु फिर भी यह कुप्रथा अभी भी बदस्तूर जारी है। इसकी बड़ी वजह यहाँ की बर्बर जाति व्यवस्था है जिसकी वजह से भारत के पूँजीपति शासक वर्ग को बेहद सस्ते दाम पर इस तरह का काम करने वाले लोग आसानी से मिल जाते हैं। ग़ौरतलब है कि मैनुअल स्केवेंजिंग का काम ज़्यादातर दलित आबादी करती है। सेप्टिक टैंक की सफ़ाई में उतरने वाले मज़दूरों के लिए ज़हरीली गैसों की चपेट में आने का ख़तरा हमेशा बना रहता है। इसके बावजूद ऐसे मज़दूरों के लिए किसी भी प्रकार के सुरक्षा इन्तज़ाम नहीं किये जाते हैं। क़ायदे से ऐसे मज़दूरों के लिए साँस लेने के उपकरण, हार्नेस, सुचारु संचार व्यवस्था और स्टैण्डबाय आदि के बन्दोबस्त होने चाहिए; उसके बिना किसी को सेप्टिक टैंक में भेजना वास्तव में मौत के मुँह में ढकेलना है। हर साल ऐसे सैकड़ों सफ़ाई मज़दूरों की मौत होने के बावजूद इस व्यवस्था के बेरहम हुक़्मरानों के ज़ेहन में उनकी सुरक्षा के इन्तज़ाम करने का ख़्याल तक नहीं आता क्योंकि उन्हें पता है कि सुरक्षा के इन्तज़ाम का सिरदर्द लेने से उनके मुनाफ़े और विलासिता में कटौती हो जाएगी। सूरत में आभूषण बनाने वाली जिस फ़ैक्ट्री के सेप्टिक टैंक की सफ़ाई के दौरान 4 मज़दूरों की दमघोंटू मौत हुई उसके सेठ को अपने मुनाफ़े की सनक में मज़दूरों की सुरक्षा का ख़्याल भला कहाँ से आएगा।

सरकारी आँकड़ों के मुताबिक़ भारत में हर रोज़ कार्यस्थल पर हुई दुर्घटनाओं में 3 लोगों की मौत हो जाती है। हम सभी जानते हैं कि वास्तविक संख्या इससे कहीं ज़्यादा होगी। इसके बावजूद मज़दूरों की सुरक्षा कभी भी राष्ट्रीय चर्चा का विषय नहीं बनती। नवउदारवादी पूँजीवाद के इस दौर में मज़दूरों की सुरक्षा के प्रति उपेक्षा और लापरवाही लगातार बढ़ती गयी है। मुनाफ़े की नाली बेरोकटोक बहती रहे इसके लिए उसमें आने वाली बाधाओं को एक-एक करके हटाया जा रहा है। मज़दूरों के अधिकारों को लगातार छीना जा रहा है। ज़्यादातर काम ठेके पर कराये जा रहे हैं ताकि मज़दूरों की सुरक्षा के प्रति कोई जवाबदेही ही न रहे। हाल ही में लागू हुए 4 मज़दूर-विरोधी लेबर कोड में से एक मज़दूरों की पेशागत सुरक्षा, स्वास्थ्य और कार्यस्थितियों से सम्बन्धित है। इसके नाम से किसी को लग सकता है कि इसमें ज़्यादा से ज़्यादा फ़ैक्ट्रियों में काम की परिस्थितियों को ज़्यादा सुरक्षित करने की बात होगी। पर असलियत यह है कि इस कोड में फ़ैक्ट्री की परिभाषा को ही इस तरह बदल दिया गया है कि देश की क़रीब आधी फ़ैक्ट्रियों को सुरक्षा की जवाबदेही से ही छुटकारा मिल गया है। ऐसे में स्पष्ट है कि इस देश का बेशर्म और बेरहम हुक़्मरान तबक़ा विशाखापट्टनम और सूरत जैसे हादसों के लिए सीधे तौर पर ज़िम्मेदार है।

एक इंसान जैसी ज़िन्दगी जीने के लिए न्यूनतम मज़दूरी कितनी होनी चाहिए?

(पेज 18 से आगे)

11,336 से अतिकुशल के लिए रु. 17,472 है, पश्चिम बंगाल में यह रु. 10,400 के क़रीब है, पंजाब में यह रु. 13,486 से अतिकुशल के लिए रु. 16,601 है, हिमाचल प्रदेश में रु. 11,820 से रु. 15,390 के बीच है। कर्नाटक सरकार ने हालिया दिनों में न्यूनतम मज़दूरी में सबसे ज़्यादा बढ़ोत्तरी (60 फ़ीसदी) की है, जिसके बाद वहाँ न्यूनतम मज़दूरी अकुशल मज़दूरों के लिए रु. 19,300 (तीसरे श्रेणी के राज्य क्षेत्र में) से कुशल मज़दूरों के लिए रु. 31,100 (पहले श्रेणी के राज्य क्षेत्र में) हो गयी है। लेकिन क़ायदे से तीसरे स्तर के राज्य क्षेत्र में अकुशल मज़दूरों की ही मज़दूरी कम-से-कम रु. 30,000 होनी चाहिए।

दूसरी बात यह है न्यूनतम मज़दूरी की उपरोक्त दरें आधिकारिक दरें हैं जो काग़ज़ों में ज़्यादा लागू होती हैं, हक़ीक़त में कम। विशेष तौर पर *अनौपचारिक मज़दूरों के लिए (जो औपचारिक और अनौपचारिक दोनों ही सेक्टरों में काम करते हैं)* ये मामूली न्यूनतम मज़दूरी दरें भी अधिकांश राज्यों में लागू नहीं होतीं। ये दरें आठ घण्टे के काम के लिए हैं। लेकिन अधिकांश राज्यों में अनौपचारिक मज़दूरों को 2 से 4 घण्टे का ओवरटाइम लगाने के बाद भी ये बेहद कम न्यूनतम मज़दूरी दरें प्राप्त नहीं होतीं। यानी, मालिकों, कम्पनियों व प्रबन्धनों को पहले ही बेहद कमज़ोर कर दिये गये श्रम क़ानूनों का उल्लंघन करने की पूरी आज़ादी दे दी गयी है। अगर मज़दूर अपने श्रम अधिकारों के लिए आन्दोलन करते हैं तो उन पर और श्रम अधिकार कार्यकर्ताओं पर ग़ैर-ज़मानती धाराएँ लगा कर फ़र्ज़ी मुक़दमे थोप दिये जाते हैं, उन्हें "आतंकवादी", "पाकिस्तानी एजेण्ट", "देशद्रोही" आदि क़रार दे दिया जाता है, जैसा कि नोएडा मज़दूर आन्दोलन के मामले में योगी सरकार और उसकी पुलिस ने किया है। *लेकिन जब मालिकान-प्रबन्धन नंगे तौर पर बरसों-बरस न्यूनतम मज़दूरी तक नहीं देते और अन्य सभी श्रम अधिकारों का उल्लंघन करते हैं, तो उनके साथ मोदी सरकार, योगी सरकार और अन्य भाजपा राज्य सरकारें क्या करती हैं? उन्हें करों से छूट दी जाती है, सस्ती ज़मीन, बिजली और पानी दिये जाते हैं, उनके कर्ज़ माफ़ कर दिये जाते हैं! "देश के विकास" के लिए यह ज़रूरी है कि पूँजीपतियों को मज़दूरों के शरीरों को रौंदकर आगे बढ़ने दिया जाय, क्योंकि धन्नासेठ और उनके नेता-नौकरशाह ही तो देश हैं, और वे आगे बढ़ेंगे तभी तो देश आगे बढ़ेगा!* इसके बदले में ये ही पूँजीपति हर चुनाव में भाजपा को लाखों करोड़ का चुनावी चन्दा देते हैं। बदले में भाजपा सरकारें उनकी तानाशाहाना मैनेजिंग कमेटियों का काम करती हैं।

ऐसे में, सबसे पहले यह सवाल उठाना लाज़िमी है कि जायज़ तौर पर हमारी न्यूनतम मज़दूरी कितनी होनी चाहिए? तभी हम एक ठोस माँग के साथ जागृत, गोलबन्द और संगठित हो सकते हैं और उसके लिए संघर्ष कर सकते हैं। साथ ही, यह भी स्पष्ट होना चाहिए कि राष्ट्रीय फ़्लोर लेवल न्यूनतम मज़दूरी के तौर पर इसी न्यूनतम मज़दूरी को स्थापित किया जाना चाहिए ताकि कोई राज्य सरकार श्रम के मसलों के संविधान की समवर्ती सूची में होने को आधार बनाकर उसका उल्लंघन न कर सके। आइये, मौजूदा उपभोक्ता क़ीमत सूचकांक के आधार पर इसका आकलन करें कि एक इंसान जैसी ज़िन्दगी जीने के लिए एक मज़दूर परिवार को कितनी न्यूनतम मज़दूरी प्राप्त होनी चाहिए। हमने **पेज 18** पर दी गयी **तालिका** में किये गये आकलन के लिए मुख्य तौर पर **राष्ट्रीय घरेलू उपभोग व्यय सर्वेक्षण, राष्ट्रीय परिवार स्वास्थ्य सर्वेक्षण, उपभोक्ता क़ीमत सूचकांक** आदि की सूचनाओं का संसाधन व प्रयोग किया है। इसमें हमने उन सभी वस्तुओं व सेवाओं पर ख़र्च को शामिल किया है जो आज के दौर में एक मेहनतकश परिवार के लिए अपरिहार्य हैं। इसके लिए, 4 से 5 लोगों के परिवार की कल्पना की गयी है (औसत परिवार आकार 4.38 सदस्यों का है)। और इसके अलावा हर वस्तु या सेवा पर होने वाले औसत ख़र्च को अनुमानित किया गया है।

आज के समय में इसमें एक ख़र्च और जोड़ा ही जाना चाहिए: प्रति माह मोबाइल रीचार्ज पर होने वाला ख़र्च जो कि औसतन रु. 700 से रु. 1200 तक आता है। अब अगर उपरोक्त नियमित औसत ख़र्चों की न्यूनतम सीमा, माध्यमिक स्तर और उच्चतम सीमा को जोड़ा जाय, तो एक सामान्य मानवीय जीवन के लिए चार से पाँच व्यक्तियों के एक परिवार को प्रति माह कम-से-कम रु. 26,000 से रु. 32,000 तक होना चाहिए। साथ ही, याद रखें, अगर आकस्मिक ख़र्च होते हैं, जैसे कोई भी विपदा, बड़ी बीमारी, अस्पताल में भर्ती, शादी-ब्याह, आदि, तो परिवार के पास कुछ भी बचा नहीं होगा ख़र्च के लिए और वह उधार लेने को मजबूर होगा! यानी, 30-32 हज़ार रुपये की मासिक मज़दूरी पर भी मज़दूर केवल अपने नियमित ख़र्चों को प्रबन्धित कर सकते हैं। लेकिन आकस्मिक और विशेष स्थितियों में वे कर्ज़ लेने को बाध्य होंगे। लेकिन नियमित ख़र्चों के लिए भी कम से कम 30 से 32 हज़ार न्यूनतम मज़दूरी होनी ही चाहिए। लेकिन हमारे देश में 90 फ़ीसदी से ज़्यादा अनौपचारिक मज़दूरों की औसत मासिक आय 10 से 12 हज़ार रुपये के क़रीब है! यह हमारी मानवीय गरिमा पर चोट नहीं है तो क्या है? हमें कीड़ा-मकोड़ा और कॉकरोच समझा जाता है। हमें न तो इंसान माना जाता है और न ही इंसानों जैसा बर्ताव हमारे साथ किया जाता है। पूँजीपतियों के लिए हम बोझा ढोने वाले पशुओं से ज़्यादा और कुछ नहीं हैं, जिन्हें बस जीने की ख़ुराक़ दे दी जाय और बदले में वे कमरतोड़ मेहनत कर धन्नासेठों की तिजोरियाँ भर सकें, उनकी औलादों की ऐय्याशियों का ख़र्च उठा सकें, उनकी सात पुश्तों का भविष्य सुरक्षित कर सकें, जबकि हमारे बच्चे हमेशा भूख और कुपोषण की रेखा पर जियें, दवा-इलाज से वंचित रहें, शिक्षा उनकी पहुँच से बाहर रहे और हम पुश्त-दर-पुश्त रोज़ ग़ुलामों के समान खटने का अभिशप्त हों।

जनता के विरोध से घबराकर उत्तर प्रदेश सरकार ने एक बार फिर लगाया एस्मा

उत्तर प्रदेश में आगामी विधान सभा चुनावों तक हड़ताल करने पर रहेगी पाबन्दी!

● बिगुल संवाददाता

उत्तर प्रदेश की योगी आदित्यनाथ सरकार ने एक बार फिर उत्तर प्रदेश में सरकारी संस्थानों में किसी भी प्रकार की हड़ताल पर रोक लगा दी है। शायद उत्तर प्रदेश इस देश का अकेला राज्य है जहाँ नियम से हर साल हड़ताल पर आवश्यक सेवा अनुरक्षण क़ानून (ESMA) का इस्तेमाल करके रोक लगायी जाती रही है। वैसे तो एस्मा जैसे दमनकारी क़ानून का किसी लोकतान्त्रिक देश में होने का कोई मतलब नहीं है और इसका हर उपयोग दरअसल इसका दुरुपयोग ही है, लेकिन योगी सरकार ने इस क़ानून के 'इस्तेमाल' के ही सारे रिकॉर्ड तोड़ दिये हैं! वास्तव में हाल ही में नोएडा समेत उत्तर प्रदेश के अन्य इलाक़ों में हुए मज़दूर आन्दोलनों और योगी सरकार की जनविरोधी नीतियों के चलते जनता के बीच बढ़ते असंतोष ने योगी सरकार को इस मज़दूर-कर्मचारी विरोधी क़ानून की शरण में एक दफ़ा फिर जाने को मजबूर किया है। इस क़दम ने दरअसल उत्तर प्रदेश सरकार की घबराहट को एक बार फ़िर उजागर कर दिया है और साबित कर दिया है कि जनान्दोलनों से भयाक्रान्त सत्ता ही ऐसा कर सकती है।

2017 में सत्तासीन होने के बाद से ही योगी सरकार प्रतिरोध की हर आवाज़ को दबाने की कोशिश में लगी हुई है। इसी कड़ी में योगी सरकार ने एक बार फिर से आने वाले छह महीने यानी कि आगामी विधान सभा चुनावों तक किसी भी प्रकार की हड़ताल पर पाबन्दी लगायी है। जैसा कि हम पहले बता चुके हैं कि यह फ़ैसला कुख्यात आवश्यक सेवा अनुरक्षण क़ानून (ESMA) के तहत लिया गया है। प्रदेश के सरकारी विभागों के साथ-साथ यह फ़ैसला निगमों, बोर्डों, प्राधिकरणों, नगर निगमों और स्थानीय निकाय के कर्मचारियों पर भी लागू होगा। हड़ताल करने वाले कर्मचारियों को 6 महीने तक की जेल या जुर्माना या दोनों हो सकता है। सवाल यह उठता है कि आख़िर योगी सरकार को यह क़दम उठाने की ज़रूरत क्यों पड़ी है?

सच तो यह है कि अपने शासन को लेकर आश्वस्त किसी भी हुक़्मरान को ऐसा करने की कोई ज़रूरत पड़नी नहीं चाहिए। आम तौर पर भी पूँजीवादी व्यवस्था के अन्तर्गत, जोकि बहुसंख्यक मेहनतकशों पर अल्पसंख्यक धन्ना-सेठों का शासन होता है, शासक वर्ग कभी भी निश्चिन्त नहीं बैठ सकते! उन्हें हर वक़्त ही जनता का भय और उससे भी ज़्यादा, उनकी सम्भावित संगठित एकता का भय सताता रहता है। पूँजीवादी राज्य द्वारा जनता की सहमति लेकर उनपर शासन करने के तमाम विचारधारात्मक तन्त्रों और प्रक्रियाओं को प्रभावशाली बनाने और साथ ही दमनात्मक तन्त्र को चाक-चौबन्द रखने और समय पड़ने पर सक्रिय करने के बावजूद शासकों के लिए इस भय के वस्तुगत कारण पूँजीवाद में मौजूद रहते ही हैं। मज़दूर वर्ग की हड़तालों को ग़ैर-क़ानूनी घोषित करने और हड़ताल करने के अधिकार पर ही रोक लगा देने के पीछे भला और कौन से कारण हो सकते हैं? जहाँ तक फ़ासीवादी शासन का सवाल है, उसके लिए तो जनता से यह भय, अन्य किसी भी प्रकार के पूँजीवादी शासन से अधिक वास्तविक होता है। फ़ासीवादी शासन के लिए दिक़्क़त यही बात बन जाती है कि जनता के हर प्रतिरोध को दबाने-कुचलने के बाद भी लोग प्रतिरोध करना नहीं छोड़ते हैं। इसके लिए ज़िम्मेदार ख़ुद फ़ासीवादी सरकारों की नीतियाँ ही होती हैं। उत्तर प्रदेश में योगी सरकार के आतंकराज के तहत बेगुनाह मुसलमानों के घरों पर बुलडोज़र चलाने से लेकर मज़दूर कार्यकर्ताओं पर फ़र्ज़ी मुक़द्दमे थोपने तक फ़ासीवादी दमन के हर प्रकार के हथियार को आज़माया जा रहा है। लेकिन तब भी उत्तर प्रदेश सरकार का सुख-चैन नदारद है! कारण सबके सामने हैं।

उत्तर प्रदेश में इस वक़्त बिजली संकट से त्राहि-त्राहि मची हुई है। लोगों में भयंकर गुस्सा है। एक तरफ़ भीषण गर्मी से लोग परेशान हैं वहीं दूसरी तरफ़ प्रदेश में बिजली का भी ज़बरदस्त संकट चल रहा है। शहरों में कई घण्टों तक बिजली की कटौती हो रही है। गाँवों और कस्बों का तो और बुरा हाल है। कई दिनों तक बिजली नहीं आ रही है। स्मार्ट मीटर लगाये जाने के बाद से बिजली के बिल भी बढ़कर आने लगे हैं। इसके अलावा सरकार द्वारा हाल ही में बिजली दरों में 10 प्रतिशत की बढ़ोतरी की गयी थी, जिसे बाद में जनदबाव में विद्युत विनियामक आयोग ने अवैध करार दिया। बिजली विभाग के निजीकरण तथा कर्मचारियों की पर्याप्त संख्या न होने से काम के अतिरिक्त दबाव को लेकर भी कर्मचारियों में गुस्सा है।

आम जनता बिजली कटौती से तो परेशान है ही, साथ में गैस सिलेण्डर, पेट्रोल, डीज़ल की लगातार बढ़ती क़ीमतों ने उसकी कमर तोड़ दी है। महँगाई का बुलडोज़र लोगों को रौन्द रहा है। परीक्षाओं में हो रही धाँधली से नौजवानों का भविष्य अन्धेरे में है। छात्र, नौजवान, मज़दूर, कर्मचारी कहीं अपनी माँगों को लेकर सड़कों पर न आ जायें इसलिए योगी सरकार एस्मा लगाकर पहले ही इस गुस्से को दबा देना चाहती है। वह इसमें कितनी कामयाब होती है यह तो वक़्त ही बतायेगा!

इसके अलावा यह फ़ैसला ऐसे समय में लिया गया है जब उत्तर प्रदेश में मज़दूरों के स्वतःस्फूर्त आन्दोलनों का उभार देखा गया। योगी सरकार पहले ही मज़दूर आन्दोलन को कुचलने के तमाम हथकण्डे अपना चुकी है। हाल ही में हमने देखा कि नोएडा में अपनी जायज़ माँगों को लेकर हड़ताल कर रहे मज़दूरों के आन्दोलन का योगी सरकार द्वारा न सिर्फ़ बर्बर दमन किया गया बल्कि ग़ैरक़ानूनी तरीक़े से गिरफ़्तार करके सैकड़ों मज़दूरों और मज़दूर कार्यकर्ताओं को जेल में डाल दिया गया। दो मज़दूर कार्यकर्ताओं को देश के लिए ख़तरा बताकर रासुका जैसा दमनकारी क़ानून लगा दिया गया। यही नहीं, निर्दोष मज़दूर व छात्र कार्यकर्ताओं पर 10-11 फ़र्ज़ी एफ़आईआर दर्ज की गयीं ताकि उन्हें महीनों तक जेल में रखा जा सके और ज़मानत मिलने की पूरी प्रक्रिया को ही नामुमकिन बना दिया जाये। इसके बाद मज़दूरों को मज़दूर दिवस (1 मई) मनाने से रोकने के लिए पूरे ज़िले में धारा 163 दी गयी ताकि मज़दूर अपनी क्रान्तिकारी विरासत को जान न सके और न ही उसे मनाने के लिए एकजुट हो सकें। दरअसल योगी सरकार जो रिपोर्ट कार्ड अपने पूँजीपति आकाओं के सामने पेश करना चाहती है उसके लिए इस तरह की असंवैधानिक, ग़ैर-क़ानूनी व दमनकारी कार्रवाइयों को अंजाम देना ज़रूरी भी बन जाता है। हालांकि इस प्रकार के अप्रत्याशित नंगे दमन के बूते तात्कालिक तौर पर कोई भी दमनकारी सत्ता मुर्दा शान्ति स्थापित करने में कामयाब हो भी जाये लेकिन दूरगामी तौर पर इसके नतीजे कुछ और ही होते हैं। इतिहास इस बात का गवाह है कि मज़दूर वर्ग का संघर्ष दमन से पैदा होने वाले अल्पकालिक झटकों और उतार-चढ़ाव के बावजूद आगे बढ़ता है और दमन प्रतिरोध को ख़त्म नहीं कर सकता है। जैसा कि हमने ऊपर इंगित किया था यह पहली बार नहीं है जब योगी सरकार ने मज़दूरों-कर्मचारियों के हड़ताल करने के मूलभूत अधिकार को कुचला हो और उसपर रोक लगायी हो। इससे पहले भी योगी सरकार एस्मा जैसे दमनकारी क़ानून को लगभग हर साल लागू कर चुकी है। चुनावों से पहले इस क़ानून को 2021 में भी वह लागू कर चुकी है। यह फ़ैसला यह दिखाता है कि योगी सरकार जनान्दोलनों से भयभीत है और उसे रोकने की तमाम कोशिशें कर रही है। यह यह भी बताता है कि 2027 में वह हर क़ीमत पर सत्ता में वापसी चाहती है।

उत्तर प्रदेश में लगे एस्मा का खास महत्व है। इसे हमें उत्तर प्रदेश के विभिन्न विभागों में बढ़ते असंतोष को दबाने के क्रम में देखने की ज़रूरत है। इस समय उत्तर प्रदेश में गहराते आर्थिक संकट, बिजली संकट और इन संकटों की वजह से बढ़ते जनाक्रोश की परिस्थिति से निपटने के लिए एस्मा लगाया गया है। अगले साल उत्तर प्रदेश में विधानसभा चुनाव होने वाले हैं। चुनावों से पहले योगी सरकार अपने कुशासन और जनविरोधी शासन के ख़िलाफ़ किसी भी तरह के प्रतिरोध को पनपने से पहले ही कुचल देने कि कोशिशें कर रही है। इसीलिए योगी सरकार कभी एस्मा लगाती है तो कभी मज़दूर कार्यकर्ताओं के ऊपर रासुका जैसा दमनकारी क़ानून लगा दिया जाता है ताकि लोग अपनी बुनियादी माँगों मसलन शिक्षा, चिकित्सा, रोज़गार, आवास, न्यूनतम वेतन आदि के लिए एकजुट और संगठित न हो सकें।

आज योगी सरकार द्वारा एस्मा लगाये जाने के जनविरोधी फ़ैसले का विरोध हर इंसाफ़पसन्द आवाज़ को करना चाहिए। यह असल में योगी सरकार की फ़ासीवादी नीतियों का ही हिस्सा है कि आज लोगों की आवाज़ को दबाने के लिए इस प्रकार के जनविरोधी फैसलों को लोगों पर थोपा जा रहा है और हड़ताल करने के बुनियादी संवैधानिक अधिकार तक को छीना जा रहा है। इसके साथ ही एस्मा के दमनकारी क़ानून को खत्म करने की माँग भी एक बेहद बुनियादी जनवादी माँग है। इस क़ानून का इस्तेमाल मज़दूरों के आन्दोलनों को दबाने के लिए हर मौक़े पर सरकारों द्वारा किया जाता रहा है। यह एक मज़दूर-विरोधी क़ानून है। इसकी मुख़ालिफ़त न सिर्फ़ मज़दूर वर्ग को करनी चाहिए बल्कि दमन-उत्पीड़न के ख़िलाफ़ खड़े हर इंसान को करनी चाहिए।

बढ़ती महँगाई और ईंधन की क़ीमतों में बढ़ोत्तरी के ख़िलाफ़ दिल्ली में विरोध प्रदर्शन

● बिगुल संवाददाता

महँगाई और ईंधन की क़ीमतों में बढ़ोतरी के ख़िलाफ़ 27 मई को दिल्ली के जन्तर-मन्तर पर एक विरोध प्रदर्शन का आयोजन किया गया। इस प्रदर्शन में राष्ट्रीय राजधानी के छात्रों-युवाओं, नागरिकों और कलाकारों ने भाग लिया।

वक्ताओं ने कहा कि यही भारतीय जनता पार्टी है, जिसके नेता 2014 से पहले क़ीमतें बढ़ने पर गैस सिलेण्डर सिर पर उठाकर महँगाई के ख़िलाफ़ विरोध करने का नाटक करते थे। मोदी ने 2014 के लोकसभा चुनाव में नारा दिया था "बहुत हुई महँगाई की मार, अबकी बार मोदी सरकार" लेकिन सत्ता में आते ही उनके इस नारे की हवा निकल गयी। हालिया विधानसभा चुनाव समाप्त होते ही ईंधन की क़ीमतों में बढ़ोत्तरी जारी है। आज हमें व्यापक जन आन्दोलन के ज़रिये यह माँग उठानी होगी कि महँगाई को कम करने के लिए प्रगतिशील कर प्रणाली लागू की जाये, जिसमें अमीरों पर अधिक कर लगाया जाये और आम जनता को सब्सिडी दी जाये। आज देश की जनता की दुर्दशा के लिए मोदी सरकार की जनविरोधी नीतियां ज़िम्मेदार हैं। इसके कारण ही ईंधन की क़ीमतों में तेज़ वृद्धि हुई है और जनता महँगाई की मार से कराह रही है। गोदी मीडिया, अपने स्वभाव के अनुरूप, एक बार फिर फ़ासीवादी सत्ता की धुन पर नाचते हुए जनता को यह बता रही

है कि अन्तरराष्ट्रीय परिस्थितियों के कारण पेट्रोल की क़ीमतों में बढ़ोतरी हुई है। पहले से ही महँगाई, बेरोज़गारी और आर्थिक संकट की मार झेल जनता को अब सरकार संयमी बनने की शर्मनाक सलाह दे रही है। इस संकट के समय भी सरकार रूस और ईरान से सापेक्षतः सस्ती मिलने वाली तेल और गैस आपूर्ति से दूरी बनाकर अमेरिका-इज़राइल धुरी की ओर झुक गयी। यह नीति "देश के महत्वपूर्ण आर्थिक हितों की रक्षा" के लिए नहीं अपनायी गयी थी, बल्कि नरेन्द्र मोदी और एपस्टीन फ़ाइल्स में नामजद हरदीप सिंह पुरी की छवि बचाने के लिए थी। आज मेहनतकश आम लोगों, छात्रों और युवाओं को अडानी, मोदी और हरदीप पुरी के पापों और स्वार्थों का बोझ उठाना पड़ रहा है। वर्तमान प्रधानमन्त्री महँगाई को लेकर चिन्तित नहीं हैं, जो आम लोगों की ज़िन्दगी को असहनीय बना रही है, बल्कि वे पूँजीपति वर्ग के मुनाफ़े को लेकर चिन्तित हैं। इस महँगाई का सबसे बड़ा बोझ मज़दूरों पर पड़ रहा है।

प्रतिरोध सभा को भारत की क्रान्तिकारी मज़दूर पार्टी (RWPI), बवाना औद्योगिक क्षेत्र मज़दूर यूनियन, दिल्ली इस्पात उद्योग मज़दूर यूनियन, करावल नगर मज़दूर यूनियन, दिशा, नौभास और बिगुल मज़दूर दस्ता के प्रतिनिधियों ने सम्बोधित किया।

पश्चिम बंगाल में भाजपा सरकार और बुलडोज़र का आतंक!

● अनन्त

विगत 4 मई को पश्चिम बंगाल में चुनाव सम्पन्न हुए। चुनाव परिणाम भाजपा के पक्ष में आया। पहली बार भाजपा बंगाल की धरती पर सत्तासीन हुई। जिस प्रकार से केंचुआ (केन्द्रीय चुनाव आयोग) ने चुनाव में भाजपा के लिए जीत के रास्ते को आसान बनाने का काम बाक़ी राज्यों में किया था, उसी शिद्दत से बंगाल में भी केंचुआ ने अपनी भूमिका निभायी। यहाँ विशेष गहन पुनरीक्षण के द्वारा लाखों लोगों को मतदान प्रक्रिया से बाहर कर दिया गया। यह पूरी क़वायद इस प्रकार से की गयी कि इसका लाभ फ़ासिस्टों को मिले। चुनाव पश्चात् आँकड़ों के साथ किये गये कुछ अध्ययन इस बात की पुष्टि भी करते हैं। हर चुनाव के साथ ईवीएम की संदिग्ध भूमिका पर सवाल और भी गम्भीर रूप से उठ खड़े होते हैं। यह अनायास नहीं है कि चुनाव परिणाम के एक महीने से कुछ समय बाद, 10 जून को, कोलकाता में जिस इमारत में 4,000 ईवीएम रखे थे वहाँ आग लग गयी। मज़ेदार है कि आग तीसरे और चौथे माले पर लगी थी, फिर पांचवें, छठे, सातवें माले को छोड़ आग आठवें तथा नवें माले पर लग गयी, जहाँ ईवीएम रखे थे! ये ईवीएम दस विधानसभा क्षेत्रों में चुनावों को कराने के लिए इस्तेमाल किए गए थे। यह घटना किसी भी तरह सामान्य नहीं है। यह ईवीएम के प्रयोग में हुए धांधलेबाजी की आशंका को और बल देता है।

बहरहाल, भाजपा बांग्लादेशी घुसपैठियों के नाम पर भयानक साम्प्रदायिक ध्रुवीकरण की राजनीति करने, ममता सरकार के निरंकुश शासन, भ्रष्टाचार, गुण्डागर्दी से आम जनता में जन्मे आक्रोश का लाभ उठाने, बेतहाशा पैसे का प्रयोग करने, तथा तमाम अन्य तरह के जोड़-तोड़ करने के परिणामस्वरूप पश्चिम बंगाल में सरकार में आ गयी। गोदी मीडिया लहालोट होकर इस जीत का बखान करने लगता है। वह मोदी-योगी के गुणगान कर रहा होता है। इसी के साथ अब बंगाल में भी होगा "बुलडोज़र राज", "बुलडोज़र न्याय" जैसे टेम्पलेट मीडिया में दौड़ने लगते हैं। आने वाले समय में होने वाले बुलडोज़र राजनीति का मीडिया पहले से ही मौहाल बनाने लगता है। सोशल मीडिया पर एक वीडियो वायरल होता है जिसमें दावा किया जाता है कि फ़रीदाबाद से एक मालगाड़ी में भरकर 227 बुलडोज़र हावड़ा पहुँचाया जा रहा है। यानी योगी मार्का बुलडोज़र मॉडल अब यूपी से निकल कर बिहार के रास्ते होते हुए बंगाल पहुँच रहा है। फ़ासिस्टों के राज में बुलडोज़र महज एक यन्त्र नहीं रहा गया है, बल्कि वह फ़ासीवादी दमन की राजनीति का एक क्रूर प्रतीक बन गया है।

पश्चिम बंगाल में भाजपा चुनाव प्रचार के दौरान से ही बुलडोज़र राजनीति को हवा देने का काम कर रही थी, वह आम तौर पर बंगाल चुनाव अभियान के दौरान भगवा बुलडोज़र के नमूनों का इस्तेमाल कर रही थी, और यूपी के मुख्यमंत्री आदित्यनाथ के साथ विशेष तौर पर इस प्रतीक का प्रचार किया जा रहा था। योगी आदित्यनाथ की एक सभा में बाक़ायदा बुलडोज़र खड़ा किया गया था, जिसपर चढ़कर भाजपा समर्थक झण्डे लहरा रहे थे। योगी अपनी सभाओं में यूपी के तथाकथित बुलडोज़र मॉडल, डबल इंजन की सरकार आदि की ही तुरतुरी बजा रहे थे।

4 मई को चुनाव परिणाम में भाजपा के बहुमत में आने के महज़ कुछ घण्टों बाद ही बुलडोज़र राजनीति की धमक कोलकाता की सड़कों पर देखने को मिली। जब 5 मई की देर शाम को भाजपा समर्थक जीत का जश्न मनाने के लिए बुलडोज़र लेकर ही सड़कों पर उतरे। फ़ासिस्टों की इस भीड़ ने पुलिस तथा केन्द्रीय बलों की उपस्थिति में कोलकाता के न्यू मार्केट, हॉग स्ट्रीट, बर्ट्रम स्ट्रीट और चार्ली चैपलिन स्क्वायर के इलाक़े में बुलडोज़र चलाया गया। जहाँ उन्होंने टीएमसी-समर्थित हॉकर्स यूनियनों के अस्थायी दफ़्तरों तथा अन्य दुकानों को ढहा दिया। कुछ सड़क विक्रेताओं ने घबराकर अपनी दुकानें बन्द कर दीं; जबकि अन्य ने चुपचाप भाजपा-समर्थित यूनियन का दामन थाम लिया। ग़ौरतलब है कि इन स्थानों पर ज़्यादातर दुकानें मुस्लिम दुकानदारों की थीं।

पश्चिम बंगाल में नयी सरकार का गठन 9 मई, 2026 को हुआ, जब मुख्यमंत्री सुवेन्दु अधिकारी और उनके प्रारम्भिक मंत्री परिषद ने शपथ ली। इस सरकार ने शपथ-ग्रहण लेने के साथ ही अपना मंशा ज़ाहिर कर दी कि यह फ़ासीवादी भाजपा की उन्हीं दमनकारी नीतियों को लागू करेगी जिनका प्रतीक चिह्न बुलडोज़र बन चुका है। बुलडोजर न केवल सड़कों पर दौड़ेगा, बल्कि सरकार की योजनाएँ और नीतियाँ भी जनता को बुलडोज़ करेंगी। सुवेन्दु सरकार के शुरुआती कदमों ने ही यह संकेत दे दिया है कि शासन में "बुलडोज़र राज" किस प्रकार लागू होगा। सुवेन्दु सरकार ने आते साथ जो पहला बुलडोज़र चलाया वह, सड़कों पर नहीं था, बल्कि यह घोषणा करना था कि विशेष गहन पुनरीक्षण (SIR) के तहत जिन लोगों के नाम मतदाता सूची से हटा दिये गये हैं, या जिनकी अपीलें अभी लम्बित हैं, उन्हें कल्याणकारी योजनाओं के लाभ से वंचित कर दिया जाएगा।

बहरहाल, नयी-नवेली सरकार की सड़कों पर बुलडोज़र चलाने की पहली कार्रवाई तिलजिला इलाक़े में हुई। 12 मई को तिलजला में एक बहुमंजिला इमारत के दूसरे तले में चल रहे अनाधिकृत कारख़ाने में आग लग गयी। जिसकी वजह से वहाँ काम करने वाले दो श्रमिक दम घुटने से मौक़े पर तथा एक की अस्पताल में इलाज़ के दौरान मृत्यु हो गयी और कई गम्भीर रूप से घायल हुए। सरकार ने आजतक श्रमिकों को न न्याय दिया है न कोई मुआवज़ा। सच यह है कि मज़दूर उनकी प्राथमिकता में कहीं नहीं हैं। सरकार की प्राथमिकता साम्प्रदायिक राजनीति है, "बुलडोज़र राज" है।

इस घटना के अगले दिन सुवेन्दु अधिकारी ने बिजली आपूर्ति कम्पनी CESC को अवैध इमारतों, जिनमें फैक्ट्रियाँ चल रही हैं, की पहचान के लिए ऑडिट करने और उनकी बिजली आपूर्ति काटने का निर्देश दिया है। मार्के की बात यह है कि इसके लिए उन्होंने कोलकाता के चार इलाक़ों — कसबा, तिलजला, मोमिनपुर और इक़बालपुर — का नाम लिया, जहाँ उनके अनुसार यह समस्या गम्भीर थी। इन इलाक़ों में मुस्लिम आबादी काफ़ी संख्या में है। 13 मई को इस घोषणा के महज़ एक-दो घण्टे के भीतर तिलजला में शाम लगभग 3:30 से 4 बजे के बीच, चार से पाँच बुलडोज़र पहुँचता है। उसके साथ केन्द्रीय सशस्त्र बलों और कोलकाता पुलिस के जवानों की एक बड़ी तैनाती भी होती, जिन्होंने ध्वस्तीकरण शुरू होने से पहले पूरे इलाक़े की घेराबन्दी कर दी। उपरोक्त इमारत में अनधिकृत कारखाने के अलावा लोगों के रिहायशी मकान भी थे, उन्हें न समय रहते कोई सूचना दी गयी, न उन्हें अपने समानों को निकालने का अवसर दिया गया।

तिलजला में बुलडोज़र की त्वरित कार्रवाई की वजह थी उस इलाक़े का मुस्लिम बहुल होना, तथा आग लगने वाली इमारत एक मुसलमान का होना। तिलजला की आड़ में हिन्दू-मुस्लिम की साम्प्रदायिक राजनीति की हवा बनायी गई। ग़ौरतलब है कि 5 मई की बुलडोज़र की कार्रवाई भी मुस्लिम बहुल क्षेत्र में हुई थी। इसके साथ ही गोदी मीडिया अपने काम में लग जाता है। बुलडोजर नीति को केवल मुस्लिम-विरोधी कार्रवाई के तौर पर पेश करते हुए, "डायरेक्ट एक्शन" बताते हुए, "यूपी मॉडल", "बुलडोज़र जस्टिस" आदि कहकर उसका जश्न मनाया जाता है। "मुसलमानों को सबक सिखाया जा रहा है", "मुसलमानों के ऊपर बुलडोज़र चल रहा है", जैसे आख्यान हवा में तैरने लगे। इन क़वायदों का असल मक़सद बुलडोज़र की दमनकारी कार्रवाइयों का सामान्यीकरण करना था ताकि आसानी से आबादी के बाकी हिस्सों के ऊपर बुलडोज़र चलाया जा सके, और इसके ख़िलाफ़ कोई भी स्वर न उठे। बुलडोज़र की इस मनमानी कार्रवाई के ख़िलाफ़ संघर्ष कर रहे सामाजिक कार्यकर्ताओं को पुलिस गिरफ़्तार करके ले गई। उन्हें तरह तरह से बदनाम किया गया, फ़र्ज़ी मुक़दमों में फँसाया गया।

सरकार बनने के ठीक एक हफ़्ते बाद बुलडोज़र हावड़ा तथा सियालदह स्टेशन के आसपास चलाया जाता है। शनिवार-रविवार की दरम्यानी रात में बुलडोज़र सैकड़ों वेंडर्स, हॉकर्स की रोज़ी-रोटी छिन लेता है। हावड़ा और सियालदह के आसपास उस रात जो कुछ हुआ, उसका पैमाना गम्भीर ध्यान की माँग करता है। इन दोनों स्टेशनों के पास एक ही रात के अभियान में लगभग 400 फेरीवालों को हटा दिया गया। चार सौ लोग। यदि मान लिया जाए कि हर फेरीवाला औसतन चार सदस्यों वाले एक परिवार का भरण-पोषण करता था, तो इसका अर्थ हुआ कि 1,600 से अधिक लोगों के लिए एक रात में जीवनयापन का साधन छीन लिया गया। अमृत भारत स्टेशन स्कीम के तहत स्टेशन का पुनर्निर्माण के नाम पर वेंडर्स और हॉकर्स पर हमला किया जा रहा है। हावड़ा, सियालदह, दम दम, सोनारपुर, मेमारी और उत्तरपाड़ा के रेलवे स्टेशन पर, तथा उसके आसपास के क्षेत्रों में ये बेदख़ली अभियान चलाये गये, बुलडोज़र दौड़ाये गये। इसके बाद बुलडोज़र यहीं नहीं रुका, वह कोलकाता की अन्य सड़कों पर भी पहुँचा, और अभी भी पहुँच रहा है। कोलकाता के अलावा आसनसोल, बर्दवान, हुगली आदि जगहों तक यह फैल रहा है।

"बुलडोज़र राज" के बाबत राज्य मंत्री दिलीप घोष ने घोषणा की कि यह केवल एक व्यापक अभियान की शुरुआत है। उन्होंने पूरे पश्चिम बंगाल में बुलडोज़र चलाने का संकल्प जताते हुए कहा: "नयी सरकार ने पहले ही दिन से यह प्रक्रिया शुरू कर दी है। हम सरकारी ज़मीन पर किसी भी तरह के अतिक्रमण को बर्दाश्त नहीं करेंगे।" किन्तु मंत्री महोदय ने जो नहीं कहा वह यह है कि आख़िर विस्थापित किए जा रहे लोगों का क्या होगा? विस्थापित लोगों के लिए वैकल्पिक स्थानों की कोई घोषणा नहीं की गयी है, न कोई पुनर्वास योजना है, न मुआवज़े का कोई ढाँचा, और न ही प्रभावित लोगों की संख्या तथा उनकी स्थिति का कोई ठोस आकलन किया गया है। यह जानने के लिए कोई सर्वेक्षण नहीं किया गया कि ये विक्रेता कौन हैं, उनके ऊपर कितने लोग आश्रित निर्भर हैं, वे कितने समय से अपना व्यवसाय चला रहे हैं, या क्या उनमें से कुछ के पास वैध नगरपालिका लाइसेंस थे जो वर्षों से राज्य ने स्वयं जारी किए थे। यह सारे सवाल सिरे से गायब हैं।

बंगाल में नये नवेले पहुँचे "बुलडोज़र राज" ने छोटे दुकानदारों, रेहड़ी पटरी वालों, फेरीवालों की आजीविका पर गम्भीर असर डाला है। ध्वस्तीकरण अभियान चलाने से पहले, तोड़फोड़ की कार्रवाई करने से पहले कहीं भी उन्हें पर्याप्त पूर्व सूचना नहीं दी गई थी। कई छोटे व्यापारियों का कहना था कि जमींदोज़ की गईं कई दुकानें दशकों से मौजूद थीं और उन्होंने प्रशासन से उसके पुनर्वास या वैकल्पिक वेंडिंग (दुकान लगाने) की व्यवस्था की माँग की थी। लेकिन बजाय उनकी माँग पर ग़ौर फ़रमाने के सरकार ने उन्हें बुलडोज़ कर दिया। ग़ौरतलब है कि,"बुलडोज़र राज" में तमाम वैधानिक, क़ानूनी प्रक्रियाओं को धता बताते हुए, बुलडोज़र चलाया जाता है। उच्चतम न्यायालय ने नवम्बर 2024 में ध्वस्तीकरण, बुलडोज़र कार्रवाई के सम्बन्ध में दिशा-निर्देश जारी किये थे, जिसमें अनिवार्य 15 दिन की नोटिस अवधि भी शामिल है, इन तमाम कार्रवाइयों में उन दिशानिर्देशों की अवेहलना की जा रही है। विडम्बना है कि बंगाल चुनाव के दौरान झालमुड़ी खाने की नौटंकी करने वाले महामानव की सरकार बनने के बाद झालमुड़ी बेचने वालों को ही दर-बदर किया जा रहा है।

अनौपचारिक क्षेत्र से जुड़े छोटे-मोटे वेण्डर्स, रेहड़ी-खोमचे वालों पर बुलडोज़र इसलिए चलाए जा रहे हैं ताकि बड़े पूँजीपतियों की सेवा में बैठी डबल इंजन की सरकारें अपने आक़ाओं के लिए रास्ता खाली कर सकें। यह अपने आक़ाओं के मुनाफ़े के रास्ते में किसी भी तरह की बाधा नहीं चाहते हैं। अतिक्रमण हटाने के नाम पर, शहर के सौंदर्यीकरण के नाम पर, तमाम छोटे मोटे वेण्डर्स, रेहड़ी-खोमचे वालों पर बुलडोज़र चलाया जा रहा है, ताकि बड़े फूड-चेन खोले जा सकें, क्विक कॉमर्स का बाज़ार फैलाया जा सके। साथ ही ये बुलडोज़र महज़ किसी इमारत या संरचना पर नहीं चलते, बल्कि नागरिक, जनवादी अधिकारों पर चलते हैं। यह केन्द्र तथा राज्य में सत्ता पर काबिज़ फ़ासिस्टों के किसी भी प्रकार के विरोधियों को खुली धमकी होती है, कि इस सरकार के सामने अगर तुमने चूँ-चपड़ की तो तुम्हें बुलडोज़ कर दिया जायेगा।

अमानवीयता की हदें पार कर रही है क्यूबा में अमेरिकी साम्राज्यवाद की घेराबन्दी

● आनन्द

अब यह दिन के उजाले की तरह साफ़ हो चुका है कि पश्चिम एशिया में ईरान के ख़िलाफ़ युद्ध में अमेरिकी साम्राज्यवाद को मुँह की खानी पड़ी है। ईरान में मिली यह शिकस्त अमेरिकी साम्राज्यवाद के पतन की सबसे ताज़ा मिसाल है। यह पतनशील अमेरिकी साम्राज्यवाद आज दुनिया के तमाम हिस्सों में मानवद्रोही कारनामों के पुराने सारे कीर्तिमान ध्वस्त कर रहा है। अमेरिका के पिछवाड़े में स्थित द्वीपीय राष्ट्र क्यूबा में अमेरिकी हस्तक्षेपों और अमानवीय प्रतिबन्धों व घेराबन्दियों का लम्बा इतिहास रहा है। पिछले छह दशकों के दौरान अमेरिका ने क्यूबा की क्रान्ति को कुचलकर उसका नामोनिशान मिटाने के लिए उसे अपने खेमे में लाने के लिए अनगिनत साज़िशें रची हैं। परन्तु इस समय अमेरिकी साम्राज्यवाद जो कुछ क्यूबा में कर रहा है उसमें उसने अमानवीयता की सारी हदें पार कर कर दी हैं।

पिछले तीन महीने से ट्रम्प नीत अमेरिका ने क्यूबा की अर्थव्यवस्था का गला घोंटने के लिए उस पर अमानवीय तेल घेराबन्दी लगायी हुई है। हालाँकि 1959 की क्यूबा की साम्राज्यवाद-विरोधी क्रान्ति के बाद से ही अमेरिकी साम्राज्यवाद ने क्यूबा पर विभिन्न तरीक़ों से आर्थिक प्रतिबन्ध लगाता आया है, परन्तु वर्तमान तेल घेराबन्दी विशेष रूप से ख़तरनाक है क्योंकि इसकी वजह से उस देश की बिजली आपूर्ति बाधित हो गई है। चूँकि क्यूबा बिजली उत्पादन के लिए बड़े पैमाने पर तेल आयात पर निर्भर है, इसलिए अमेरिका द्वारा लगाई गई तेल घेराबन्दी के कारण गम्भीर बिजली संकट पैदा हो गया है, जो क्यूबा के लोगों के जीवन और आजीविका पर बेहद प्रतिकूल प्रभाव डाल रहा है। क्यूबा की अर्थव्यवस्था लगभग ठप हो चुकी है। यह कहना अतिशयोक्ति नहीं होगी कि क्यूबा के लोग इस समय एक मानवीय विपदा का सामना कर रहे हैं जो अमेरिकी साम्राज्यवाद की अमानवीय हरकतों का प्रत्यक्ष परिणाम है।

ज्ञात हो कि इस वर्ष की शुरुआत में वेनेज़ुएला के राष्ट्रपति मादुरो का अपहरण कर वेनेज़ुएला के तेल पर नियंत्रण स्थापित करने के बाद, ट्रम्प-नीत अमेरिकी साम्राज्यवाद ने वेनेज़ुएला से क्यूबा को होने वाली तेल आपूर्ति पर रोक लगा दी थी। इसके साथ ही ट्रम्प प्रशासन ने उन सभी देशों से अमेरिका में आने वाले उत्पादों पर भारी शुल्क लगा दिया, जो क्यूबा को तेल बेचते थे। चूँकि क्यूबा में बिजली अधिकांशत: आयातित तेल से बनायी जाती है इसलिए क्यूबा में तेल भेजने पर अमेरिका द्वारा प्रतिबन्ध लगाने की वजह से वहाँ इस समय एक भीषण मानवीय संकट पैदा हो गया है। इस द्वीपीय राष्ट्र में रोज़ाना लम्बे समय तक बिजली की भयंकर कटौती हो रही है जिसकी वजह से न सिर्फ़ लोगों का अँधेरे में रहना पड़ रहा है बल्कि वहाँ एक गम्भीर खाद्य संकट भी पैदा हो गया है। इसकी वजह यह है कि क्यूबा में भोजन पकाने, उसके परिवहन और भण्डारण की व्यवस्था लगभग पूरी तरह से बिजली पर निर्भर है। इस प्रकार, अमानवीय तेल प्रतिबन्ध ने लगभग एक करोड़ क्यूबाई लोगों को भुखमरी के कगार पर पहुँचा दिया है क्योंकि लोगों को आधे पेट सोना पड़ रहा है।

इसके अलावा, बिजली कटौती के कारण अस्पतालों का कामकाज भी बुरी तरह प्रभावित हुआ है, क्योंकि वे पर्याप्त बिजली के बिना संचालित नहीं हो सकते। नतीजतन, क्यूबा में तेल प्रतिबन्धों से एक स्वास्थ्य संकट भी पैदा हो गया है। यह एक त्रासद विडम्बना है कि दुनिया में चिकित्सा सेवाओं के मामले में मिसाल पेश करने वाला क्यूबा आज चिकित्सीय संकट से गुज़र रहा है। बिजली आपूर्ति के अभाव में जहाँ भोजन ख़राब हो रहा है, वहीं जल आपूर्ति भी प्रभावित हो रही है क्योंकि पानी के पम्प काम नहीं कर पा रहे हैं। इसके अतिरिक्त, क्यूबा में विमान के ईंधन की किल्लत के कारण वहाँ अनेक उड़ानें रद्द करनी पड़ी हैं, जिससे पर्यटकों के आगमन पर निहायत ही प्रतिकूल प्रभाव पड़ रहा है। इससे क्यूबा की उस अर्थव्यवस्था को भारी नुक़सान पहुँच रहा है, जो पर्यटन पर काफ़ी हद तक निर्भर है। क्यूबा में जारी यह मानवीय संकट ट्रम्प-नीत अमेरिकी साम्राज्यवाद की उस सुनियोजित नीति का प्रत्यक्ष परिणाम है, जिसका उद्देश्य क्यूबा की जनता को घुटने टेकने के लिए मजबूर करना है। ट्रम्प प्रशासन की ये नीतियाँ ही क्यूबा में पैदा हुए मानवीय संकट का मुख्य कारण हैं।

क्यूबा पर थोपा गया तेल प्रतिबन्ध पहले से ही संकटग्रस्त द्वीपीय राष्ट्र की अर्थव्यवस्था पर एक घातक प्रहार से कम नहीं है। ज्ञात हो कि कोविड महामारी के कारण क्यूबा की अर्थव्यवस्था को गम्भीर क्षति पहुँची थी क्योंकि पर्यटकों की संख्या में भारी गिरावट आई थी। अभी क्यूबा कोविड के झटके से उबरने का प्रयास कर ही रहा था तभी उसे 2025 के उत्तरार्ध में आए हरीकेन मेलिसा की वजह से भारी तबाही का सामना करना पड़ा। वह अभी उस प्राकृतिक आपदा से पूरी तरह उबर भी नहीं पाया था कि उसे साम्राज्यवाद द्वारा थोपी गई एक और आपदा—तेल घेराबन्दी—का सामना करना पड़ रहा है। अमेरिकी साम्राज्यवाद मानवद्रोही चरित्र उस समय पूरी तरह उजागर हो गया जब ईरान में युद्ध के बढ़ते ख़तरे के बीच ट्रम्प ने खुले तौर पर कहा कि उन्हें "क्यूबा पर कब्ज़ा करने का सम्मान" प्राप्त होगा। यह बयान एक ऐसी साम्राज्यवादी शक्ति की बौखलाहट की निशानी है जो अपने पतन को स्वीकार नहीं कर पा रही है। यह साफ़ तौर पर दर्शाता है कि मुनाफ़े की दर में गिरावट के संकट से उबरने की कोशिश में साम्राज्यवाद मानवता को एक अन्धी सुरंग की ओर धकेल रहा है।

क्यूबा में जारी भीषण मानवीय संकट के बीच ही क्यूबा पर आत्मसमर्पण करने के लिए दबाव डालने के मक़सद से अमेरिका ने वहाँ के क्रान्तिकारी नेता और पूर्व राष्ट्रपति राउल कास्त्रो पर दो अमेरिकी विमानों को गिराने के 30 साल पुराने मामले में सज़ा सुना दी। ग़ौरतलब है कि कास्त्रो की उम्र इस समय 94 वर्ष की है और कयास लगाये जा रहे हैं कि वेनेजुएला के राष्ट्रपति मादुरो की ही तरह अमेरिका कास्त्रो को भी अगवा करके अमेरिका में मुक़दमा चला सकता है। ट्रम्प उम्मीद कर रहा है कि क्यूबा पर प्रतिबन्धों को सख़्त करने की वजह से वहाँ की सत्ता गिर जाएगी और अमेरिका की मनपसन्द राष्ट्रपति चुन लिया जाएगा। अगर ऐसा नहीं होता है तो ट्रम्प क्यूबा में सैन्य हस्तक्षेत्र करने से भी बाज़ नहीं आएगा।

ऐतिहासिक रूप से क्यूबा की जनता ने साम्राज्यवाद-विरोधी संघर्ष की शानदार मिसाल पेश की है। साथ ही हम यह भी नहीं भूल सकते कि क्यूबा ने दुनिया भर के दूरदराज़ इलाक़ों में प्राकृतिक आपदाओं के समय अपने डॉक्टरों और चिकित्सा मिशनों को भेजकर मानवता की सेवा की अप्रतिम मिसाल पेश की है। आज जब क्यूबा स्वयं भीषण संकट के दौर से गुजर रहा है, तब दुनिया भर की मेहनतकश जनता को इस संकट की घड़ी में क्यूबा के लोगों के साथ एकजुटता व्यक्त करनी चाहिए। भारत के मज़दूर वर्ग को भी क्यूबा की जनता के प्रति अपनी एकजुटता जाहिर करते हुए भारत सरकार पर दबाव बनाना चाहिए कि वह क्यूबा में घेराबन्दी ख़त्म करने के लिए अमेरिका पर कूटनितिक दबाव बनाये। दुनियाभर के मेहनतकश जनसमुदाय की एकजुटता के बूते ही क्यूबा इस संकट से बाहर निकल सकता है।

शिक्षा मंत्री धर्मेन्द्र प्रधान के इस्तीफ़े की माँग को लेकर दिल्ली के जन्तर-मन्तर पर छात्रों-युवाओं का विरोध प्रदर्शन

● बिगुल संवाददाता

विगत 20 मई को सीजेपी के बैनर तले पेपर लीक, परीक्षाओं में धाँधली के ख़िलाफ़ और केन्द्रीय शिक्षा मन्त्री धर्मेन्द्र प्रधान के इस्तीफ़े की माँग को लेकर प्रदर्शन की शुरुआत हुई। यह रिपोर्ट लिखे जाने तक आन्दोलन जारी है। पहले दिन प्रदर्शन में 1500 से अधिक छात्र शामिल हुए थे, बाद में उनकी संख्या कम हो गयी। प्रदर्शनकारियों ने बताया कि वह धर्मेन्द्र प्रधान के इस्तीफ़े तक अपने प्रदर्शन को जारी रखेंगे। विभिन्न मीडिया रिपोर्टों के अनुसार इस साल नीट परीक्षा में पेपर लीक होने के बाद अब तक अठारह छात्र आत्महत्या कर चुके हैं। तब भी देश के शिक्षा मन्त्री अपनी ज़िम्मेदारी और जवाबदेही स्वीकार करने से भाग रहे हैं।

सीबीएसई द्वारा एक कम्पनी को फ़ायदा पहुँचाने के लिए छात्रों के भविष्य से खिलवाड़ किया गया। इन दिनों विभिन्न प्रतियोगी परीक्षाओं के पेपर लीक, धाँधली और घपलेबाजी को लेकर छात्र-युवा आबादी के बीच गहरा आक्रोश व्याप्त है। लगातार बढ़ते आक्रोश के बीच 6 जून को दिल्ली में जन्तर-मन्तर पर सीजेपी ने अपना पहला प्रदर्शन किया था। इसके बाद सीजेपी के द्वारा लखनऊ और पुणे में भी प्रदर्शन किया गया था। जन्तर-मन्तर पर अभी जारी प्रदर्शन दिल्ली में सीजेपी का दूसरा प्रदर्शन है। सीजेपी के संस्थापक अभिजीत दिपके ने छात्र-युवा आबादी को अपनी पीड़ा व्यक्त करने का और संघर्ष का एक चैनल मुहैया कराया जो निश्चित तौर पर एक प्रशंसनीय काम है। सीजेपी से पहले हुए के प्रदर्शनों में भी धर्मेन्द्र प्रधान के इस्तीफ़े की माँग को उठाया जाता रहा है।

प्रदर्शन में शामिल दिशा छात्र संगठन के सदस्य रउफ़ ने बिगुल संवाददाता को बताया - "धर्मेन्द्र प्रधान के नकारेपन के लिए उनसे इस्तीफ़ा देने की माँग करना एकदम जायज़ है। लेकिन शिक्षा और परीक्षा की कुव्यवस्था के लिए धर्मेन्द्र प्रधान के अलावा देश की सरकार की शिक्षा नीति, सरकार द्वारा शिक्षा बजट में लगातार फ़ण्ड की कटौती और एनटीए जैसी कुख्यात संस्था भी ज़िम्मेदार है। कई शैक्षणिक संस्थानों और एजेंसियों में भाजपा आरएसएस के विचारधारा से सहमत लोगों बैठा दिया गया है, जोकि उस काम के लिए कुशल ही नहीं है। इसलिए छात्रों को इन सभी के ऊपर सवाल उठाना होगा और इस आन्दोलन को एक सूत्रीय माँग से आगे लेकर जाना होगा।" रिपोर्ट लिखे जाने तक यह आन्दोलन को एक सूत्रीय माँग तक ही सीमित था। प्रदर्शन में शामिल लोग पूछ रहे हैं कि आन्दोलन आगे कैसे बढ़ेगा! सीजेपी और नेतृत्व के अन्य लोग प्रदर्शनकारियों के समक्ष आगे का रास्ता बताने में असमर्थ दिख रहे हैं। इस प्रदर्शन में संशोधनवादी पार्टियों के छात्र संगठनों के लोग भी शामिल हैं। सीजेपी के लोगों ने भाषणों में बीजेपी-आरएसएस का नाम लेने से मना कर दिया, इस पर इन तथाकथित छात्र संगठनों ने चुप्पी साध ली जबकि उन्हें देश की शिक्षा प्रणाली की बर्बादी में बीजेपी-आरएसएस की भूमिका को रेखांकित करते हुए सीजेपी के नेतृत्व से दोस्ताना संघर्ष चलाना चाहिए था। संशोधनवादी सीपीआईएमएल लिबरेशन के छात्र संगठन के लोग ज़रूरी सवालों पर चुप्पी साधकर इस आन्दोलन के नेतृत्व में बने रहने की पूरी कोशिश कर रहे हैं। संशोधनवादी सीपीआईएम के छात्र संगठन के लोग "माँ तुझे सलाम" सरीखे गीतों पर नृत्य कर रहे हैं। इस प्रदर्शन में संशोधनवादी पार्टियों के लोग प्राय: "वन्दे मातरम्" गा रहे हैं और हाथों में तिरंगा लहरा रहें हैं। यह सब इन संशोधनवादी पार्टियों की अवसरवादी राजनीति का ही एक और प्रमाण है।

साथ ही ग़ौर करने वाली बात यह भी है कि नीट परीक्षा दोबारा होने के बाद, प्रदर्शन को जारी रखने एवं आगे बढ़ाने के लिए दिशा का अभाव, बेहद सीमित मुद्दे और प्रदर्शन में एक जैसी चीज़ों का लगातार दोहराव आदि के कारणों से आन्दोलन ढलान की ओर जाता हुआ प्रतीत हो रहा है। इसे दुरुस्त किया जाना चाहिए क्योंकि देश के छात्र-युवा आबादी के एक बड़े हिस्से को इस आन्दोलन से ढेर सारी उम्मीदें हैं।

'नोएडा के मज़दूरों और कार्यकर्ताओं की रिहाई के लिए अभियान' (CaRWAN) के बैनर तले दिल्ली में विरोध प्रदर्शन

● **बिगुल संवाददाता**

दिल्ली के जन्तर-मन्तर पर विगत 14 जून को 'नोएडा के मज़दूरों और कार्यकर्ताओं की रिहाई के लिए अभियान' (CaRWAN) द्वारा एक विरोध प्रदर्शन का आयोजन किया गया। यह प्रदर्शन नोएडा हिंसा मामले में झूठे आरोपों में फँसाए गए मज़दूरों और कार्यकर्ताओं की पहली गिरफ़्तारी के दो महीने पूरे होने के मौक़े पर उनकी रिहाई और अन्य माँगों को लेकर थी।

ज्ञात हो कि यूपी पुलिस ने 11 अप्रैल को बॉटेनिकल गार्डन मेट्रो स्टेशन से चार कार्यकर्ताओं - सृष्टि, आकृति, मनीषा, रूपेश को अवैध रूप से उठाकर जेल में डाल दिया था। इनका "अपराध" केवल इतना था कि जब नोएडा के मज़दूर अपनी जायज़ माँगों के लिए हड़ताल कर रहे थे तब इन्होंने उन मज़दूरों का साथ दिया। इन्होंने बार-बार आन्दोलन को शान्तिपूर्ण ढंग से चलाने की अपील की थी।

13 अप्रैल को हिंसा भड़कायी गयी, जिसमें खुद पुलिस की भूमिका संदिग्ध है। नोएडा हिंसा का बहाना बनाकर पुलिस ने हड़ताल को बेरहमी से कुचल दिया। इस दौरान चार और कार्यकर्ताओं (सत्यम वर्मा, आदित्य आनन्द, हिमांशु ठाकुर व योगेश मीणा) तथा एक हजार से अधिक मज़दूरों को अवैध रूप से गिरफ़्तार किया। पिछले दिनों इलाहाबाद हाइकोर्ट ने यूपी पुलिस के बारे में टिप्पणी करते हुए कहा कि यूपी के पुलिस अधिकारी संविधान की जगह सत्ता के प्रति वफ़ादार है। इन दो महीनों में यूपी पुलिस और प्रशासन ने न्याय और क़ानूनी प्रक्रियाओं का मज़ाक बना दिया - अवैध हिरासतें, "विच-हंट" (पूर्वाग्रहपूर्ण तलाश और उत्पीड़न) और हिरासत में हिंसा। इसके साथ ही झूठी कहानी फैलाई जिसके ज़रिये मज़दूरों के आन्दोलन को साज़िश बता दिया और उनके विरोध को अपराध घोषित किया कर दिया। इस विरोध प्रदर्शन में विभिन्न प्रगतिशील संगठनों, जनपक्षधर बुद्धिजीवियों, छात्रों, कलाकारों और जागरूक नागरिकों ने भाग लिया। प्रोग्रेसिव आर्टिस्ट्स लीग के कलाकारों ने प्रतिरोध के गीत गाये। जन्तर-मन्तर की सड़कों पर चित्रकारी की। अपने कलाकर्म के ज़रिये जेल में बन्द मज़दूरों और कार्यकर्ताओं के प्रति एकजुटता दिखायी।

'नोएडा के मज़दूरों और कार्यकर्ताओं की रिहाई के लिए अभियान' की ओर से चिरांशु ने प्रतिरोध सभा को सम्बोधित करते हुए कहा: "नोएडा की हड़ताल मज़दूरों का स्वतःस्फूर्त आन्दोलन था। आन्दोलन के पीछे कई वजहें थी मसलन, न्यूनतम मज़दूरी कम होना, कठिन कार्य परिस्थितियां, कार्यस्थल पर उत्पीड़न और लगातार बढ़ती महँगाई। मज़दूर 12 घण्टे काम के बदले केवल 10-12 हजार रुपये में काम करने के लिए मजबूर थे। रिचा ग्लोबल और मदरसन जैसी बड़ी कंपनियों के मालिकों के ने कई श्रम क़ानूनों का उल्लंघन किया और मज़दूरों को ग़ुलामी से भी बदतर परिस्थितियों में रहने को मजबूर किया। उन मालिकों के ऊपर प्रशासन ने कोई कार्रवाई नहीं की। यूपी पुलिस और सरकार उन्हीं उद्योगपतियों के इशारों पर काम कर रही है। वह मज़दूरों के विरोध को अपराध बना रही है और आपराधिक प्रक्रिया का दुरुपयोग कर रही है। एक ही घटना के लिए कई एफ़आईआर दर्ज करने का कोई क़ानूनी या तार्किक आधार नहीं है। जब आम लोगों ने यूपी पुलिस द्वारा फैलायी गयी पाकिस्तान और नेपाल से जुड़ी साज़िश जैसी बेतुकी बातों को ख़ारिज कर दिया, तो अब पुलिस कार्यकर्ताओं को फँसाने के लिए एफ़आईआर का जाल बुनकर उन्हें क़ानूनी और प्रशासनिक उलझनों में फँसा रही है ताकि उनकी रिहाई और कठिन हो जाए। इनके द्वेषपूर्ण कृत्य सच को डिगा नहीं सकते। जेल में भी हमारे साथियों के हौसले बुलन्द हैं। जेल में वो कहानियां-कविताएं लिख रहे हैं। पेंटिंग्स बना रहे हैं। महान कृतियों का अनुवाद कर रहे हैं। उन्होंने सालों से जेल में बन्द पड़ी पुस्तकालय को साफ़ सुथरा किया और उसे चालू करवाया। उनकी सृजनशीलता जारी है।"

प्रोफ़ेसर नंदिता नारायण ने कहा, "मुझे आकृति, हिमांशु और योगेश जैसे छात्रों पर गर्व है। आज की पीढ़ी के छात्रों को ऐसा ही करना चाहिए। केवल अपने करियर के बारे में सोचने के बजाय उन्होंने अपनी शिक्षा का उपयोग उत्पीड़ित लोगों की आवाज़ बनने के लिए किया। सभा में उपस्थित छात्रों को सम्बोधित करते हुए प्रो. नंदिता ने विश्वविद्यालयों में जनवादी स्पेस के सिकुड़ने पर भी चिंता व्यक्त की। उन्होंने कहा, "यह वास्तव में परेशान करने वाली बात है कि योगेश को यूपी पुलिस के सिविल ड्रेस में आए पुलिसकर्मियों द्वारा नॉर्थ कैंपस के अन्दर से अगवा किया गया और विश्वविद्यालय प्रशासन ने इस पर कोई कार्रवाई नहीं की।" सामाजिक कार्यकर्ता नौरीन ने नोएडा मज़दूर आन्दोलन के बाद यूपी पुलिस द्वारा चलाए गए "विच हंट" पर विस्तार से बाते रखी। यूपी पुलिस की स्पेशल टास्क फोर्स ने निजी स्थानों, लाइब्रेरी और कई जगहों पर ग़ैरक़ानूनी तरीक़े से छापेमारी की और बिना किसी उचित प्रक्रिया के युवाओं को अगवा कर अवैध रूप से गिरफ़्तार किया। नौरीन ने यह भी बताया कि ट्रैकिंग और निगरानी अभी भी जारी है। यूपी पुलिस के अधिकारी अब भी दिल्ली में महिला छात्रों का पीछा कर रहे हैं, उन्हें धमका रहे हैं। उन्होंने कहा, " पुलिस ने मुझे भी अगवा किया था, मेरी धार्मिक पहचान के कारण प्रताड़ित किया, मुझे बांग्लादेशी तक कहा।"

नौजवान भारत सभा के आशीष ने स्वतंत्र और जनपक्षधर मीडिया को सम्बोधित करते हुए अपनी बाते रखी। उन्होंने इस कठिन समय में मज़दूरों और कार्यकर्ताओं के साथ खड़े रहने के लिए जनपक्षधर मीडिया का आभार व्यक्त किया। उन्होंने कहा, " नोएडा आन्दोलन के दौरान जीस्ट से लेकर दैनिक भास्कर तक के मीडियाकर्मियों को यूपी पुलिस ने कैमरे के सामने पीटा। न्यूज़ पिंच के रिपोर्टर को बेइज्जत किया। उसी समय मुख्यधारा की मीडिया ने झूठ फैलाने और यूपी पुलिस की ब्रीफिंग्स को बिना जाँच पड़ताल किये आगे बढ़ाने का विकल्प चुना। वहीं न्यायप्रिय पत्रकारों ने स्वतंत्र जाँचों के माध्यम से सच्चाई उजागर की, जिसमें यह सामने आया कि यूपी पुलिस ने उकसावे की भूमिका निभाई और हिंसा को बढ़ावा दिया।"

भारत की क्रान्तिकारी मज़दूर पार्टी (RWPI) से योगेश ने वहाँ एकत्रित लोगों से अपील की कि वे नोएडा मामले में गिरफ़्तार मज़दूरों और कार्यकर्ताओं की रिहाई तक अभियान को जारी रखें और उसे और तेज़ करें। उन्होंने कहा कि जनसमूह की सामूहिक एकता ही हर प्रकार के दमन का प्रतिरोध कर सकती है।

इस विरोध प्रदर्शन में प्रोग्रेसिव स्टूडेंट यूथ एसोसिएशन, मज़दूर संघर्ष संगठन और बवाना औद्योगिक क्षेत्र मज़दूर यूनियन के कार्यकर्ताओं ने भी भाग लिया।प्रदर्शन का समापन नारों के साथ हुआ, जिनमें सभी आरोपों को वापस लेने, राष्ट्रीय सुरक्षा कानून (NSA) को रद्द करने और मज़दूरों एवं कार्यकर्ताओं की तत्काल रिहाई की माँग की गई।

महान साहित्यकार मक्सिम गोर्की के स्मृति दिवस (18 जून) के अवसर पर

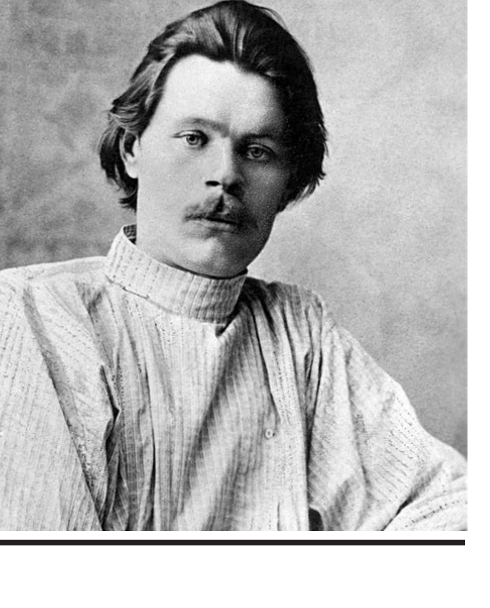

"लोग दुख सहने की शक्ति कहाँ से लाते हैं?"
"वे इसकी आदत डाल लेते हैं,"
— माँ ने एक आह भरते हुए उत्तर दिया।

(*'माँ'* उपन्यास से)

"आदमी का हृदय जब वीर कृत्यों के लिए छटपटाता हो तो इसके लिए वह सदा अवसर भी ढूँढ लेता है। जीवन में ऐसे अवसरों की कुछ कमी नही है और अगर किसी को ऐसे अवसर नहीं मिलते,तो समझ लो कि वह काहिल है या फ़िर कायर या यह कि वह जीवन को नहीं समझता। "

(*'बुढ़िया इजरगिल'* से)

"मैं मानव-जाति से प्रेम करता हूँ और चाहता हूँ कि उसे किसी भी तरह से दु:ख न पहुँचाऊँ, परन्तु इसके लिये न तो हमें भावुकता का दामन पकड़ना चाहिए और न ही चमकीले शब्द- जाल और ख़ूबसूरत झूठ की टट्टी खड़ी करके जीवन के भयानक सत्य को हमें छिपाना चाहिए ! ज़रूरी है कि हम जीवन की ओर मुँह करें और हमारे हृदय तथा मस्तिष्क में जो कुछ भी शुभ और मानवीय है, उसे जीवन में उड़ेल दें।"

('जीवन की राहों पर' से)

डाक पंजीयन : SSP/LW/NP-319/2023-2026
प्रेषण डाकघर : आर.एम.एस, चारबाग़, लखनऊ
प्रेषण तिथि : दिनांक 5, प्रत्येक माह

करोड़ों लोगों के वोट देने के बुनियादी राजनीतिक अधिकार छीनने वाली एसआईआर (SIR) की क़वायद पर सर्वोच्च न्यायालय की मुहर!

पहले जनता सरकार को चुनती थी, अब सरकार जनता को चुन रही है!

● आकाश

गत 27 मई को सर्वोच्च न्यायालय की दो जजों की बेंच —जिसमें भारत के मुख्य न्यायाधीश सूर्यकान्त और जस्टिस जॉयमल्य बागची शामिल थे— ने केन्द्रीय चुनाव आयोग (केचुआ) द्वारा देशभर में की जा रही स्पेशल इंटेसिव रिवीज़न (एसआईआर) (SIR) की बेहद विवादास्पद क़वायद पर अपनी अन्तिम मुहर लगा दी। इसके साथ ही केचुआ के लिए देश के तमाम हिस्सों में इस ख़तरनाक जनविरोधी क़वायद को बेरोकटोक अमल में लाने का रास्ता पूरी तरह से साफ़ हो गया है। ग़ौरतलब है कि अब तक एसआईआर की क़वायद कुल 14 राज्यों/केन्द्र-शासित प्रदेशों में की जा चुकी है जिसके नतीजे के तौर पर करोड़ों लोगों के वोट देने के अधिकार पर तलवार लटक रही है। इनमें 5 करोड़ ऐसे लोग भी शामिल हैं जिनका नाम 2024-25 तक मतदाता सूची में था परन्तु अब उनका नाम सूची से इस आधार पर हटा दिया है कि वे अपने निर्वाचन क्षेत्र में नामौजूद थे, कहीं और पलायन कर चुके थे, उनकी मृत्यु हो चुकी थी, उनका नाम सूची में एक से अधिक बार आया था या फिर उनके नाम की वर्तनी में कोई विसंगति पायी गयी थी। इतने बड़े पैमाने पर लोगों के नाम मतदाता सूची से हटाने की वजह से एसआईआर की यह क़वायद शुरू से ही सवालों के घेरे में रही है, परन्तु सर्वोच्च न्यायालय ने इन सवालात को दरकिनार करते हुए केचुआ को पूरे देश में एसआईआर जैसी अन्यायपूर्ण क़वायद को जारी रखने की ख़ुली छूट दे दी है। ग़ौरतलब है कि इस समय देश के 19 राज्यों/केन्द्र-शासित प्रदेशों में एसआईआर किया जा रहा है। एक अनुमान के मुताबिक़ एसआईआर की क़वायद के बाद पूरे देश में क़रीब 10 करोड़ लोगों के मतदान के अधिकार पर ख़तरा मँडराने की सम्भावना है। कहने की ज़रूरत नहीं कि इनमें अधिकांश आबादी ग़रीब मेहनतकश और मुस्लिम पृष्ठभूमि और साथ ही मेहनतकश दलितों के बीच से आती है।

एसआईआर की प्रक्रिया क्यों अन्यायपूर्ण है?

केचुआ और केन्द्र सरकार एसआईआर के पीछे यह तर्क दे रहे हैं कि यह मतदाता सूची की विसंगतियों को दूर करने और अवैध मतदाताओं को सूची से हटाने की सामान्य और ज़रूरी प्रक्रिया है जो आज़ादी के बाद कई बार की जा चुकी है। यह सच है कि मतदाता सूची में संशोधन की प्रक्रिया पहले भी कई बार की जा चुकी है, परन्तु इस बार एसआईआर के नाम पर जो प्रक्रिया देशभर में की जा रही है वह अभूतपूर्व है। जहाँ पहले मतदाता सूची में संशोधन का मक़सद यह होता था कि देश के किसी भी वयस्क नागरिक को उसके मतदान के बुनियादी अधिकार से वंचित न रखा जाए, वहीं इस बार एसआईआर का मक़सद कुछ चुनिन्दा दस्तावेज़ों के आधार पर लोगों का मतदाता होना या न होना तय करना है। इस प्रकार एसआईआर की प्रक्रिया में मतदाता होना साबित करने का बोझ नागरिक पर है जबकि पहले यह सुनिश्चित करना राज्य की ज़िम्मेदारी होती थी कि हर वयस्क नागरिक का नाम मतदाता सूची में शामिल किया जाये। यही वजह है कि आज़ाद भारत के इतिहास में पहली बार ऐसा हुआ है कि मतदाता सूची के संशोधन के बाद मतदाताओं की संख्या में गिरावट आयी है। उत्तर प्रदेश, पश्चिम बंगाल और गुजरात जैसे राज्यों में एसआईआर के तहत 10 प्रतिशत से भी ज़्यादा लोगों के नाम मतदाता सूची से हटाये गए हैं। यह अपने आप में दिखाता है कि एसआईआर की प्रक्रिया कितनी अन्यायपूर्ण है क्योंकि आबादी बढ़ने की वजह से वास्तव में मतदाता सूची में नाम बढ़ने चाहिए। पहले मतदाता सूची में किये गये संशोधनों में यही होता आया था कि संशोधन के बाद मतदाताओं की संख्या में इज़ाफ़ा होता था। परन्तु इस बार इज़ाफ़ा तो दूर, जिन लोगों के नाम पहले से मौजूद थे और जो लोग पहले लोकसभा और विधानसभा के चुनावों में वोट भी देते आए थे उनके नाम भी मतदाता सूची से हटा दिये गये हैं।

ग़ौर करने वाली बात यह भी है कि मामला सिर्फ़ मतदान के बुनियादी राजनीतिक अधिकार का ही नहीं है। हालाँकि सर्वोच्च न्यायालय ने यह कहा है कि एसआईआर का नागरिकता से कोई सम्बन्ध नहीं है, परन्तु जिन लोगों का नाम मतदाता सूची से निकाला जा रहा है उनकी नागरिकता निश्चय ही सन्देह के घेरे में आ जाएगी। मसलन पश्चिम बंगाल भाजपा की सरकार बनते ही मुख्यमंत्री शुभेन्दु अधिकारी ने घोषणा कर दी कि जिन लोगों का नाम एसआईआर के तहत मतदाता सूची से हटाया गया है उनको सरकार की कल्याणकारी स्कीमों का लाभ नहीं मिलेगा। यही नहीं, जिनके नाम मतदाता सूची में नहीं हैं उनको बांग्लादेशी घुसपैठिये के रूप में प्रस्तुत किया जा रहा है। ज़ाहिरा तौर पर इस आबादी में से अधिकांश लोग बांग्लादेश के नहीं हैं क्योंकि वे पीढ़ियों से इस देश में रहते आए हैं। उनका नाम सिर्फ़ इस वजह से हटा दिया गया क्योंकि उनके पास पर्याप्त दस्तावेज़ मौजूद नहीं थे या फिर उनके दस्तावेज़ों में नाम की वर्तनी जैसी कुछ विसंगतियाँ थीं। इस प्रकार एक बड़ी आबादी के सामने राज्यविहीन हो जाने का ख़तरा पैदा हो गया है। हैरत की बात है कि महामहिम माननीय न्यायाधीशों को इस सरासर नाइंसाफ़ी में कहीं कुछ गड़बड़ी नहीं दिखाई दी और उन्होंने आँख मूँदकर केचुआ और सरकार की दलीलों को स्वीकार कर लिया।

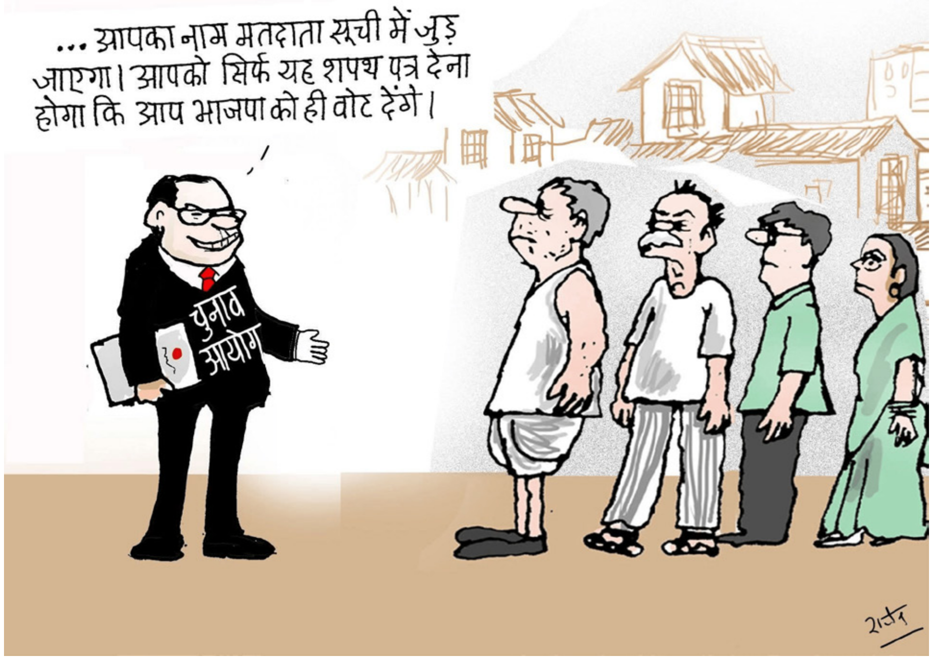

एसआईआर: एक फ़ासीवादी राजनीतिक हथकण्डा

अगर हम एसआईआर के पीछे की राजनीति को समझने की कोशिश करें तो यह बात आसानी से समझ में आ जाएगी कि यह मतदाता सूची में संशोधन करने की साधारण प्रक्रिया मात्र नहीं है बल्कि एक फ़ासीवादी राजनीतिक हथकण्डा है। इसके ज़रिये इस देश के फ़ासीवादी हुक़्मरान इस देश पर लम्बे समय तक अपना एकछत्र राज्य क़ायम करने की योजना बना रहे हैं। ग़ौरतलब है कि 2024 के लोकसभा चुनावों में फ़ासीवादी भाजपा का विजय रथ दलदल में फँस गया था। 400 पार का नारा लगाने वाले फ़ासिस्ट अपने दम पर पूर्ण बहुमत भी नहीं हासिल कर सके थे। परन्तु उसके बाद हुए कई राज्यों के विधान सभा चुनावों में फ़ासीवादियों को लगातार एक के बाद एक कई आश्चर्यजनक जीतें हासिल हुईं। इन सभी विधानसभा चुनावों में चुनाव और मतदाता सूची से जुड़ी धाँधलियाँ सुर्ख़ियों में रहीं। हरियाणा और महाराष्ट्र के विधान सभा चुनावों में ईवीएम में छेड़छाड़ से लेकर वोट चोरी तक के आरोप बहुत मुखर रूप में सामने आये। उसके बाद बिहार के विधानसभा चुनाव से एसआईआर का मुद्दा सुर्ख़ियों में रहा। बिहार में किये गए एसआईआर में क़रीब 47 लाख मतदाताओं के नाम मतदाता सूची से हटा दिये गये। पश्चिम बंगाल में हालत इससे भी भयावह रही। वहाँ केचुआ द्वारा जारी पहली सूची में क़रीब 91 लाख लोगों का नाम मतदाता सूची से हटा दिया गया। इनमें से क़रीब 60 लाख लोगों को नामौजूद और मृत बताया गया जबकि 34 लाख ज़िन्दा और मौजूद वोटरों का भविष्य अधर में डाल दिया गया। इसमें 27 लाख लोगों को केवल इस आधार पर मतदाता सूची से निकाल दिया गया कि उनके नाम की वर्तनी उनके दस्तावेज़ों से मेल नहीं खाती है। पश्चिम बंगाल विधान सभा चुनाव से पहले जब इतने बड़े पैमाने पर वोट के अधिकार से वंचित करने का मामला सर्वोच्च न्यायालय तक पहुँचा तो एक न्यायाधीश महोदय ने टिप्पणी की कि इसमें कोई बड़ी बात नहीं है, अगर वे इस बार वोट नहीं दे पाएँगे तो अगली बार वोट कर सकते हैं!

अन्तिम सूची में जिन लोगों के नाम मतदाता सूची से हटाये गये हैं उनमें मुस्लिमों की संख्या काफ़ी ज़्यादा है। कई विशेषज्ञों ने यह दिखाया है कि भाजपा द्वारा जीती गई सीटों में लगभग आधी सीटों में भाजपा की जीत का अन्तर मतदाता सूची से हटाये गये मतदाताओं की संख्या से कम था। यह दिखाता है कि एसआईआर का मक़सद राजनीतिक है। वास्तव में एसआईआर के ज़रिये भाजपा का मक़सद उन मतदाताओं को मतदाता सूची से निकाल बाहर करने का है जो भाजपा के ख़िलाफ़ वोट करते हैं। इसके ज़रिये वह बांग्लादेशी घुसपैठिये का मुद्दा भी लगातार चर्चा में बनाये रखना चाहती है ताकि उसके शासन की विफलताओं से लोगों का ध्यान भटकाये रखा जा सके। एक प्रकार एसआईआर चोर दरवाज़े से एनआरसी (नेशनल रजिस्टर ऑफ़ सिटिजन्स) लागू करने का कुत्सित प्रयास है। चूँकि जब उन्होंने देशव्यापी स्तर पर एनआरसी करने की प्रक्रिया शुरू की थी तो उसके ख़िलाफ़ देशभर में एक विशाल जनान्दोलन खड़ा हो गया था, इसलिए अब उसी मक़सद को दूसरे तरीक़े से पूरा करने की रणनीति आज़मायी जा रही है।

इस प्रकार हम देख सकते हैं कि एसआईआर वास्तव में भाजपा द्वारा अपने गिरते हुए जनाधार की सूरत में भी लम्बे समय तक सत्ता में बने रहने के तमाम हथकण्डों में से एक है। अगर हम एसआईआर को भाजपा की अन्य आगामी हथकण्डों—परिसीमन, एक देश एक वोट और क्षेत्रीय पार्टियों को तोड़ना— के साथ देखें तो स्पष्ट हो जाता है कि आने वाले दिनों में येन-केन-प्रकारेण सत्ता में बने रहने की उसकी रणनीति क्या है। पहले जनता सरकार को चुनती थी अब सरकार जनता को चुनेगी।

एसआईआर जैसी घोर जनविरोधी क़वायद का इतने आसानी से अमल में लाना एक बार फिर से यह दिखाता है कि फ़ासीवादियों ने भारत के बुर्जुआ लोकतंत्र की तमाम संस्थाओं पर आन्तरिक रूप से क़ब्ज़ा कर लिया है। चुनाव आयोग, सीबीआई, ईडी और यहाँ तक कि न्यायपालिका भी आमतौर पर भाजपा की मर्ज़ी के अनुसार काम कर रहे हैं। महज़ चुनावी राजनीति के दम पर फ़ासीवाद को पटखनी देना पहले भी मुमकिन नहीं था, अब जबकि भाजपा साम, दाम, दण्ड, भेद हर तिकड़म से इस देश की चुनावी राजनीति पर अपना एकछत्र राज्य क़ाम करने की तैयारी कर रही है, तब यह दिन के उजाले की तरह साफ़ होता जा रहा है कि एक जुझारू जनान्दोलन खड़ा करके ही फ़ासीवाद को निर्णायक मात दी जा सकती है।

मुद्रक, प्रकाशक और स्वामी कात्यायनी सिन्हा द्वारा 263, हरिभजन नगर, शहीद भगतसिंह वार्ड, तकरोही, लखनऊ-226016 से प्रकाशित और उन्हीं के द्वारा मल्टीमीडियम, 310, संजय गांधी पुरम, फैजाबाद रोड, लखनऊ से मुद्रित। सम्पादक- अभिनव ● सम्पादकीय पता : 263, हरिभजन नगर, शहीद भगतसिंह वार्ड, तकरोही, इन्दिरानगर, लखनऊ-226016